UNIVERSAL
LIBRARY

OU_180359

UNIVERSAL
LIBRARY

OUP—552—7-7-66—10,000

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H183.1 Accession No. H2772

Author A82k

Title कौटिल्य

This book should be returned on or before the date last marked below.

काले साहब

[संस्मरण और कहानियाँ]

उपेन्द्रनाथ अश्क

नीलाभ प्रकाशन गृह

इलाहाबाद-१

पहला संस्करण १९५०

दूसरा संस्करण १९५५

मूल्य ३॥)

प्रकाशक

नीलाभ प्रकाशन गृह, ५ खुसरो बाग़ रोड, इलाहाबाद-१

मुद्रक

देश सेवा प्रेस, ५४ हिवेट रोड, इलाहाबाद-२

न सुनो गर बुरा कहे कोई   न कहो गर बुरा करे कोई
रोक लो गर ग़लत चले कोई   बख़्श दो गर ख़ता करे कोई

ग़ालिब के इस सद्उपदेश को जिन्हों ने जाना ही नहीं, अपने
जीवन में अपनाया भी है, उन्हीं मामा जी
(श्री ए० एस० कपूर) के लिए

सादर

विज्ञप्ति

'काले साहब' मेरे कुछ संस्मरणों और नयी-पुरानी कहानियों का संग्रह है। पंचगनी में जब मैं बीमार था और ख़ाली समय काफ़ी था, कौशल्या ने मेरा एक संस्मरणात्मक रेखा-चित्र लिखा। लिखा तो उन्होंने पहले आल इंडिया रेडियो के लिए था, पर पंचगनी की उन ख़ाली घड़ियों में उन्होंने उसमें वह सब भर दिया जो रेडियो-भाषण की तंग परिधि के कारण वे न लिख सकती थीं।

कौशल्या ने उसमें कुछ ऐसी बातें लिखीं कि मेरे लिए अपनी सफ़ाई में कुछ लिखना अनिवार्य हो गया। उत्तर में मैंने उनका रेखा-चित्र लिखा और उसी में अपनी सफ़ाई भी दे दी। मेरा लेख उतना अच्छा नहीं बना। खिसियानी बिल्ली खम्बा नोचे की-सी बात हो गयी। लेकिन जब वे दोनों लेख 'संगम' इलाहाबाद में छपे तो इतने लोकप्रिय हुए कि हमने उन्हें अपने सम्मिलित-संग्रह 'दो धारा' में दे दिया। 'दो धारा' में कहानियों की अपेक्षा उन्हीं रेखा-चित्रों को आलोचकों और पाठकों ने

अधिक पसंद किया। 'दो धारा' की लोक-प्रियता का कारण भी यही रेखाचित्र हैं।

उन संस्मरणात्मक रेखा-चित्रों से ही मुझे कुछ और रेखा-चित्र तथा संस्मरण लिखने की प्रेरणा मिली। 'मेरे प्रथम प्रयास' तथा इस संग्रह में संगृहीत 'कश्मीरी लाल अश्क' और 'अड्डी चुक भूतना' उसी प्रेरणा का परिणाम हैं।

कहानियों में अधिकांश नयी हैं। किन्तु दो बहुत पुरानी हैं। 'चैन का अभिलाषी' १६२६ और 'भिश्ती की बीवी' १६३१ की हैं। इससे पहले ये किसी संग्रह में संकलित नहीं हुईं। जहाँ तक आधार-भूत विचारों का संबन्ध है, ये आज के युग की हैं। इसीलिए मैंने इन्हें अपने इस नये संग्रह में संकलित करने में संकोच नहीं किया।

अब तक मेरे कहानी संग्रह सदा एक ही प्रकार की कहानियों को लेकर संकलित किये गये हैं—प्रेम कहानियाँ, भावुकतापूर्ण सामाजिक कहानियाँ, हास्यरस की कहानियाँ, आदि-आदि। प्रत्येक कहानी-संग्रह में एक रस अथवा विचार-धारा का बाहुल्य रहा है। प्रस्तुत संग्रह में पहली बार पाठकों को भिन्न रसों का परिपाक मिलेगा। आशा है मेरे पाठक यह प्रयोग पसंद करेंगे।

५, खुसरो बाग़ रोड
इलाहाबाद
२६ अगस्त १६५०

उपेन्द्र नाथ अश्क

अनुक्रम

काले साहब	६
बगूले	२१
भाई	२५
सतीत्व का आदर्श	२६
बरूँसी का फूल और भैंस	३५
कश्मीरी लाल अश्क	५१
मर्द का एतबार	७१
नासूर	७७
आ लड़ाई आ, मेरे आँगन में से जा !	६३
ज्ञानी	६७
चारा काटने की मशीन	१००
कालू	१०७
भिश्ती की बीवी	१२३
चैन का अभिलाषी	१३५
काकड़ाँ का तेली	१४३
अड्डी-चुक भूतना	१६३

काले साहब

डी० एम० की कोठी से बाहर निकलकर श्रीवास्तव ने रिस्टवाच की ओर देखा। आठ बजे थे। उसके पास पूरा एक घंटा था। चपरासी ने डी० एम० के नौ बजे वापस आने की बात कही थी। तो क्यों न वह गजानन को इलाहाबाद में अपने शुभागमन का सुसमाचार दे आये। 'एक पंथ दो काज' में उसका सदा विश्वास रहा था, बल्कि यदि किसी पंथ में दो के बदले चार काज हों तो वह उन सब को एक साथ निबटाने से कभी न चूकता था। यही कारण था कि छः सात वर्ष पहले तीस चालीस रुपये मासिक से उन्नति कर वह इस थोड़े से अर्से में डिप्टी कलक्टर हो गया था। न केवल यह, बल्कि डिप्टी कलक्टर होने के बाद इसी चुस्ती और चालाकी के बल पर वह सूने और बीहड़ ज़िलों को फलाँगता हुआ इलाहाबाद आ नियुक्त हुआ था। आज ही प्रातः इलाहाबाद में उसका पदार्पण हुआ था और आज ही वह अपने अफ़सर के यहाँ हाज़िरी देने जा पहुँचा था। पर डी० एम० लखनऊ से दौरे पर आने

वाले एक मंत्री के यहाँ हाज़िरी देने गये हुए थे, इसलिए एक घंटा श्रीवास्तव के पास खाली था। गजानन उसका बचपन का मित्र था। एलनगंज में रहता था। यूनिवर्सिटी में लेक्चरर था। अभी वह घर ही पर होगा, यह सोचकर श्रीवास्तव ने इस खाली समय में उसी के यहाँ हो आने को फैसला किया। कचहरी के पास से गुजर कर वह सड़क पर आ खड़ा हुआ— एक दिन वह इसी कचहरी का बड़ा हाकिम बनेगा, यह ध्यान आते ही गर्व से उसकी एड़ियाँ तनिक उठ गयीं, उसके हाथ बुश्शर्ट के अकड़े हुए कालर पर होते हुए दामन पर आकर रुक गये और पंजों पर एक दो बार ज़ोर देते हुए उसने आगे पीछे से बुश्शर्ट को ठीक किया। तभी उसने देखा कि सामने बारहदरी के पास दो रिक्शा वाले जैसे उसी को लेकर कुछ बहस करते हुए चले आ रहे हैं।

"रिक्श्या !"

उसने साहबी स्वर से, गले में शब्द को तनिक उमेटते हुए, आवाज़ दी।

"जी हजूर !"

और दोनों रिक्शा उसके सामने आ खड़े हुए।

"घंटे के हिसाब से चलोगे ?"

"कहाँ जायँगे ?" पहले रिक्शा वाले ने पूछा।

"कहीं भी जायें !"

"क्या घंटा मिलेगा ?"

"जो भी रेट होगा !"

"रुपया घंटा लेंगे !"

"दस आना मिलेगा !"

"अजी आइए हुजूर आप इधर आइए !" दूसरे रिक्शा वाले ने बड़े लखनवी ढंग से हाँक लगायी।

"हाँ— हाँ तुम ले आओ !"

और दूसरे रिक्शा के बराबर आते ही श्रीवास्तव उचक कर उसमें बैठ गया। बुश्शर्ट को दोनों ओर दामन से ज़रा खींच कर, उसने ठीक किया और पतलून को तनिक ऊपर उठा लिया कि उसकी क्रीज़ खराब न हो जाय। वह पीछे की ओर पीठ लगाकर आराम से नहीं बैठा। बुश्शर्ट के मसले जाने का उसे भय था, और डी० एम० से मिलने तक वह इसी प्रकार लक-दक बना रहना चाहता था। रिक्शा पर वह इस प्रकार अकड़ा बैठा था जैसे डी० एम० से हाथ मिलाकर अभी-अभी कुर्सी पर बैठा हो। सीधा, अकड़ा और चाक चौबन्द !

रिक्शा वाला ख़ाकी सूट पहने था। सूट बहुत मैला भी न था। शक्ल से भी वह साधारण रिक्शा वाला न मालूम होता था। इलाहाबाद के रिक्शा वालों में देहातियों का बाहुल्य रहता है। फ़सल का मौसम न हो और काम से छुट्टी हो तो निकटवर्ती गाँवों के देहाती अपने लम्बे तगड़े शरीर पर खादी की बंडी और कमर में अँगोछा बाँधे, मुर्री में एक जून का राशन लिये इलाहाबाद की ओर चल पड़ते हैं। संध्या को पहुँचते हैं, रात के लिए रिक्शा लेते हैं और सवारियों से पैसा पैदा करके ही दूसरे जून के सत्तू खरीदते हैं। इन्हीं रिक्शा वाले देहातियों की सुविधा के लिए बहुत से पनवाड़ियों ने पान, बीड़ी, सिगरेट के साथ सत्तू के थाल भी सजा रखे हैं, जिनके पिरामिडों में हरी मिर्चें खुसी अजब बहार देती हैं। ये देहाती रिक्शा वाले, रिक्शा चलाते-चलाते जब ज़रा समय पाते हैं तो सेर आध सेर सत्तू ले, उन्हींकी थाली में गूंध लौंदा सा बना कर हाथ पर रख लेते हैं और मिर्चों की सहायता से निगल कर पास के किसी नल से दो घूंट पानी पी लेते हैं।

कहते हैं कि गीदड़ की मौत आती है तो वह नगर की ओर भागता है। उस गीदड़ और इन देहातियों में कोई विशेष अन्तर नहीं। दिन दिन भर और कई बार दिन और रात भर रिक्शा चला कर जहाँ

वे साल-साल भर का लगान कमा कर ले जाते हैं, वहाँ फेफड़ों को भी खोखला कर जाते हैं।

दूसरे रिक्शा वाले, इलाहाबाद ही के ऐसे नागरिक मजदूर हैं जो द्वितीय युद्ध के बाद बेकार हो गये हैं। रिक्शा चलाते-चलाते उनकी पसलियाँ निकल आयीं हैं। यक्ष्मा उनकी आँखों में झाँकता है, तो भी वे मँहगाई के इस ज़माने में बाल-बच्चों का पेट भरने के लिए रिक्शा खींचने को विवश हैं।

श्रीवास्तव प्रयाग का ही निवासी था। वह इन दोनों तरह के रिक्शा-वालों से भली-भाँति परिचित था। किन्तु उसका यह रिक्शा वाला उसे इन दोनों से भिन्न दिखायी दिया। इधर रिक्शे वालों की एक तीसरी श्रेणी भी नज़र आने लगी है। रोनाल्ड कॉलमैन की तरह बारीक सी मूँछ बनाये, फौजी पेंट या बुश्शर्ट या केवल टोपी पहने, युद्ध से छुट्टी पाये बेकार फौजी रिक्शा चलाने लगे हैं। रिक्शा चलाते समय उनके सिर का तिरछापन, साइकिल की गद्दी पर बैठे हुए उनकी कमर की अकड़ और पैडल घुमाते हुए बाहर की ओर घुटनों का फैलाव, पहली ही दृष्टि में उनके फ़ौजी होने का पता दे देता है। ओठों के दायें अथवा बायें कोने में बीड़ी दबाये, तीसरे महायुद्ध के स्वप्न देखने, मिस्र, ईरान, इटली, जर्मनी, वहाँ की आज़ाद फ़िज़ा और गोरी-गोरी तन्वंगियों के ख़्वाब लेते, वे दनदनाते हुए रिक्शा चलाये जाते हैं। आजादी ने उन्हें गिड़-गिड़ाना भुला कर स्वाभिमान से सिर उठाना सिखा दिया है। अधिकांश अर्द्ध-शिक्षित हैं, इसलिए स्वाभिमान की सीमाएँ कहाँ अक्खड़पन से मिल जाती हैं, यह नहीं जानते। मोल भाव अधिक नहीं करते और सवारी को ऐसी दृष्टि से देखते हैं मानो वह लूट-मार में पकड़े हुए शत्रु-नागरिकों में से कोई हो।

परन्तु यह रिक्शावाला यद्यपि सैनिक वर्दी पहने था, पर उसमें वह सैनिकों की सी अकड़ न थी। मुख पर भी उसके अन्य फ़ौजियों की भाँति

सूखे हुए आटे का सा तनाव न था, बल्कि गुँधी हुई लोई की सी गर्मी और लचक थी।

"क्यों भई क्या तुम सेना में काम करते थे?" श्रीवास्तव ने अकड़े बैठे-बैठे उकता कर, शरीर को तनिक ढीला छोड़ते हुए, पूछा।

रिक्शा वाले ने रिक्शा चलाते-चलाते ज़रा पीछे की ओर देखा, "नहीं साब, सेना में हम क्या काम करते!" और यह कहते हुए उसके ओठों पर व्यंग्य और उपेक्षा भरी मुस्कान दौड़ गयी, जिस में हल्के से दर्द की रेखा भी श्रीवास्तव की आँखों से छिपी न रही। वह मुस्कान मानो कह रही थी कि सेना की नौकरी जैसा निकृष्ट काम हम क्या करते।

"तो क्या रिक्शाएँ चलाते हो?" श्रीवास्तव का मतलब था कि चार छः रिक्शा रख कर क्या उनकी आमदनी खाते हो?

रिक्शावाला हँसा। "अजी साब कहाँ। यहाँ तो यह रिक्शा भी अपना नहीं। किराये पर लेकर चलाते हैं।"

श्रीवास्तव को उसके स्वर में सभ्यता की यथेष्ट मात्रा लगी। उससे उसे सहानुभूति हो आयी। "तो ऐसा जान-मारू काम तुम काहे को करते हो?" उसने कहा, "रिक्शा चलाने से तो फेफड़ों पर बड़ा ज़ोर पड़ता है। दिन रात हल और फावड़ा चलाने वाले देहाती तो खींच सकते हैं इन्हें, तुम्हारे ऐसे शहरियों के बस का यह काम नहीं।"

"जी हम क्या अपनी इच्छा से चलाते हैं? बीवी है, तीन-चार बच्चे हैं, माँ है, दो विधवा बहनें हैं। इतने बड़े कुटुम्ब का खर्च अकेले हमीं पर है।"

"तुम कोई और काम क्यों नहीं कर लेते?"

"हमको दूसरा कोई काम आता नहीं साब!"

"तो क्या तुम सदा से रिक्शा चलाते हो।"

"जी नहीं साब, जब से देस को आज़ादी मिली है!" रिक्शा वाले

ने रिक्शा चलाते-चलाते दायें हाथ से माथा ठोंका और बोला, "अंग्रेज यहाँ से गये, काले साहब उनकी जगह आये कि हमारी क़िस्मत फूटी। देसी साहबों को न हमारे काम की समझ न परख। न हम उनके काम के न वे हमारे। हमने तो अर्ज़ी दी थी कि हमको कोई दूसरा काम नहीं आता, हमको उन्हींके साथ विलायत भेज दीजिए, पर किसी ने हमारी नहीं सुनी।"

"तो क्या करते थे तुम?"

"हम कमिश्नर 'डक' के यहाँ काम करते थे। पचास रुपया महीना पाते थे, रहने के लिए दो कमरे थे, कपड़े साब देते थे। माफ़ कीजिएगा..." और रिक्शावाला बात करते-करते संकोच से तनिक रुका।

"नहीं-नहीं कहो।" श्रीवास्तव ने फिर अकड़ कर बैठते हुए कहा।

"यह जो बुश्शर्ट आपने पहन रखी है" रिक्शा वाले ने पीछे को मुड़ कर बड़े अदब से कहा, "ऐसी तो साब के यहाँ हम पहना करते थे।"

श्रीवास्तव फिर ढीला होकर बैठ गया। पीठ भी उसकी पीछे लग गयी और सूट के मसले जाने का भी उसे ध्यान न रहा।

"अंग्रेज़ों के राज में जो मौज ली, वह अब कहाँ!" रिक्शा वाला कहता गया। "दिन त्यौहार पर इनाम मिलते थे। हमारे ही नहीं बीबी बच्चों तक के कपड़े बन जाते थे। अब बताइए इतना हम कहाँ पायें? कैसे बीवी बच्चों का ख़र्च चलायें? मज़बूरन रिक्शा चलाते हैं, खून सुखाते हैं। किसी दिन इसी तरह टरक जायँगे।"

"पर आख़िर बात क्या है, तुम किसी देसी साहब के यहाँ काम क्यों नहीं करते? कमिश्नर की जगह कमिश्नर है और कलक्टर की जगह कलक्टर!"

रिक्शा वाले ने रिक्शा चलाते-चलाते फिर पीछे की ओर तनिक

देखा, "देसी साब हमें क्या खा कर रखेंगे!" वह बोला और उसके ओठों पर वही व्यंग्य-उपेक्षा भरी मुस्कान फैल गयी।

"क्या करते थे तुम कमिश्नर डक के यहाँ ?" श्रीवास्तव ने उत्सुकता मिली झल्लाहट से पूछा, "कुक थे ?"

"जी नहीं, खानसामागीरी हमसे नहीं होती।"

"तो क्या करते थे, बैरा थे ?"

"जी हाँ, बैरा थे।"

श्रीवास्तव फिर अकड़कर बैठ गया, "तो इसमें क्या बात है। तुम दूसरी जगह नौकरी कर सकते हो। हमारे ही यहाँ एक बैरा है।"

"जी नहीं, वैसे बैरा हम नहीं थे। हम खाना-वाना लाने का काम नहीं करते थे। हम साब के कपडे देखते थे।"

"हाँ, हाँ, कपडे-अपड़े देखते होंगे, बूट-ऊट साफ़ करते होंगे।"

"जी नहीं बूट तो भंगी साफ़ करता था। हम सिर्फ कपडे देखते थे।"

"क्या देखते थे कपड़ों का सारा दिन ?"

"अब साब, आपसे क्या बतायें, आप समझेंगे नहीं।" रिक्शा वाले ने ज़रा सा मुड़कर मुस्कराते हुए कहा, "अंग्रेज़ लोगों की बड़ी बातें थीं। एक वक्त एक सूट पहनते थे। रात का अलग, दफ्तर का अलग, दिन के आराम का अलग, सैर-सपाटे का अलग, फिर डिनर सूट गोल्फ़ सूट, पोलो सूट, डांस सूट, शिकार सूट। उनको ठीक जगह पर रखना, धोबी को देना, लेना, साब को पहनाना, यही हमारा काम था। देसी साब क्या समझें और परखें हमारा काम? दिन रात, महीनों बरसों एक ही सूट घिसे जाते हैं। यही साब जिनकी लाल कोठी के पास से होकर अभी हम निकले हैं, बड़े भारी अफ़सर हैं, पर कभी-कभी ऐसा सूटो पहनते हैं, जो लगता है, कालेज के दिनों का सम्हाले हुए हैं। जहाँ दफ्तर लगाते हैं, वहाँ बाल रूम था। शनि की रात को क्या-क्या रौनकें होती थीं। और बगीचा देखा आपने, उसकी क्या दुर्गति हुई है!

कभी अंग्रेज़ साब के ज़माने में उसकी बहार देखते ? वही बगीचा क्या, यह सारी सिविल लाइन्स पड़ी अंग्रेज़ साहबों के नाम को रो रही है। इतने बड़े-बड़े बंगले, इतने बड़े-बड़े बागीचे, रांड के सिर की तरह मुँडे दिखायी देते हैं।"

श्रीवास्तव को उस रिक्शा वाले की उपेक्षा और भारतीय रहन-सहन के प्रति उसका दुर्भाव बहुत बुरा लगा। यद्यपि वह स्वयं साहबी ठाठबाट से रहना पसन्द करता था, परन्तु उस समय उसे अंग्रेज़ी संस्कृति से सम्बन्ध रखने वाली प्रत्येक वस्तु के प्रति क्रोध हो आया। उस 'अज्ञ' को तनिक सा 'विज्ञ' बनाने के विचार से उसने कहा, "उनके और अपने खान-पान, वेश-भूषा, रहन-सहन में बड़ा अन्तर है। वे लोग मांस मछली खाना, शराब पीना बुरा नहीं समझते। गाय और सुअर का मांस खाते हैं। हमारे यहाँ उसको छूना भी पाप है, उनकी औरतें नाचती हैं, हमारे यहाँ......"

"कुछ नहीं साब," रिक्शावाले ने उसकी बात काट कर और रिक्शा के पैडल पर अपने जोश में और भी ज़ोर देते हुए कहा, "हम लोगों का देस ग़ुलामों का देस है। घोंघे की तरह हम अपने आप में बंद होकर रह गये हैं। गरीब होने से हमने गरीबी को स्वर्ग बना दिया है। धनी होने पर भी हम आदत से गरीब बने रहते हैं। रुपया बैंकों में जमा रखते हैं और दाल रोटी पर सब्र करते हैं। हमको हमारा साब बताता था कि भारत जब आज़ाद था, जब आर्या (आर्य) लोग इस देस में आये थे तो वे भी खूब खाते-पीते, नाचते-गाते और मौज मनाते थे। न यह पर्दा था, न खान-पान के यह बंधन थे। हमको हमारा साब बताता था कि धन का लाभ उसे खर्च करने में है, बैंक में जमा करने में नहीं। रुपया खर्च होता है तो देस के कारीगर, मज़दूर, दुकानदार सब काम पाते हैं, नहीं तो बेकारी बढ़ती है। साब साल के साल फ़रनीचर और दरवाज़ों

खिड़कियों पर रोगन कराते थे। छै महीने में वाइट वाश कराते थे। दो माली, दो बैरे, ख़ानसामा, धोबी, भंगी उनके यहाँ नौकर थे। फिर उनके दम से डबल रोटी वाले, अंडे वाले, कुर्सी-मेज़ वाले और न जाने कौन कौन रोज़ी पाते थे......"

श्रीवास्तव के हृदय में ज्वाला सी लपकी। उसका जी चाहा कि वहीं उठ कर उस 'साहब के कुत्ते' की गुद्दी पर ज़ोर का एक घूँसा दे, लेकिन रिक्शा काफ़ी तेज चला जा रहा था। तब उसने अपना क्रोध अपने परवर्ती गोरे अफ़सरों पर निकाला।

"उन सालों का क्या है? जनता को लूटते और मौज उड़ाते थे।"

"जनता को ये क्या कम लूटते हैं?" रिक्शा वाले ने पलट कर बड़ी मिसकीन व्यंग्य-मयी हँसी के साथ कहा, छोटे से लेकर बड़े अफ़सर तक सब खाते हैं। वहाँ तो बड़े अफ़सर कुछ संकोच भी करते थे। यहाँ तो आपाधापी मची है। बस लेना जानते हैं, देना नहीं जानते। अंग्रेज़ लेता था तो दस आदमियों का पेट पालता था। ये खाते हैं तो जमा करते हैं। खायें उड़ायें भी क्या, आदत भी हो। वही धोती कुर्ता पहने बाहर भीतर सब जगह बने रहते हैं। पन्द्रहवें बीसवें, महीने दो महीने पर हजामत बनवाते हैं। नाई धोबी, बैरा ख़ानसामा क्या पायेंगे इन से?"

श्रीवास्तव मन ही मन उमठ सा गया, पर चुप बना रहा कि क्या उस कमीने के मुँह लगे।

"दूर क्यों जाइए" रिक्शा वाला अपनी रौ में कहता गया। "रिक्शे ताँगे वालों को ही ले लीजिए। बड़ा से बड़ा सेठ रिक्शा करेगा तो मोल-भाव करना न भूलेगा। यहीं एलनगंज में एक आनरेरी मजिस्ट्रेट रहते हैं। बड़े आदमी हैं। चौक में उनका एक प्रेस भी चलता है। हमेशा यहाँ अड्डे पर आ खड़े होते हैं और चाहते हैं कि एक ही सवारी के पैसे देने पड़ें। दूसरी सवारी न हो तो आध-आध घंटे खड़े रहते हैं। अंग्रेज़

मामूली फ़ौजी भी हो तो कभी मोल-भाव न करता था। फिर जेब में रुपया हुआ तो रुपया दे दिया और दो हुए तो दो दे दिये। एक बार हमारे साब की मोटर बिगड़ गयी थी। यहीं एलनगंज से कचहरी जाने में पाँच रुपये का नोट उन्होंने रिक्शा वाले को दे दिया था।"

गजानन का घर आ गया था। श्रीवास्तव उचक कर उठा। परन्तु वहाँ जाकर मालूम हुआ कि वह है नहीं। अपना कार्ड छोड़, श्रीवास्तव मुड़ा और रिक्शा वाले से उसने कहा कि जल्दी से चले। कचहरी के सामने उतरते वक्त श्रीवास्तव ने घड़ी देखी। एक घंटा दस मिनट हुए थे।

दूसरा वक्त होता तो वह दस आने घंटे के हिसाब से बारह आने से अधिक न देता। पर इस रिक्शा वाले को बारह आने देने में उसे हिचकिचाहट हुई। साहबों की कब्र पर लात मारते हुए उसने कहा :

"एक घंटे से कुछ ही मिनट ऊपर हुए हैं। दो घंटे भी लगायें तो एक रुपया चार आने होते हैं। पर यह लो दो रुपये। चौदह आने हमारी ओर से बख़शीश समझ लो।"

रिक्शा वाले ने लगभग फौजी ढंग से सलाम किया और श्रीवास्तव गर्व से एड़ियों को तनिक और उठाता हुआ डी० एम० की कोठी की ओर चला।

"क्यों क्या मिला ?"

पहले रिक्शावाले ने जो अभी तक अड्डे पर खड़ा था, ज़ोर से पूछा।

"दो रुपये !"

"दो-रुपये-ये !"

"हाँ दो रुपये ! किसी देसी अफ़सर से मैंने कभी कम लिया जो इस से लेता। साले इन काले साहबों से निबटना मैं ही जानता हूँ।"

अंतिम वाक्य की भनक श्रीवास्तव के कानों में पड़ गयी। उसकी उठी हुई एड़ियाँ बैठ गयीं। शरीर का तनाव और चाल की अकड़ कम हो गयी और वह साधारण आदमियों की तरह चलता डी० एम० के बंगले में दाख़िल हुआ।

बगूले

अपनी दो बीघे की छोटी-सी खेती को जोत, सींच, गोड़ और दिन रात रखवाली करके दुल्ले ने गेहूँ की सुनहली बालियाँ उगायीं। उधर बैसाखी के ढोल बजने आरंभ हुए इधर उसने हाथ में दराँती ले ली। फिर तपती घड़ियों में उसने अंधाधुंध फ़सल काटी, कूटी और साँघे और तंगली की सहायता से भुस मिले दानों का ढेर लगा दिया।

धूप की तीक्ष्णता बढ़ गयी थी। उसके दमकते प्रकाश में चमकते हुए दाने दुल्ले के समस्त सम्पन्न दिनों का चित्र खींच रहे थे—किस प्रकार वह, उसकी पत्नी नजमा और उसके बच्चे कम से कम आठ-दस महीनों के लिए भूख के पंजे से मुक्त हो जायँगे। ऋण और लगान चुकाकर उनके पास इतना तो बच ही जायगा कि वे इन चंद महीनों में अपना और अपने बच्चों का पेट पाल सकें।

बिखरे हुए भुस को तंगली की सहायता से ढेर पर फेंकते हुए दुल्ले ने मन ही मन कल्पनाओं के कई प्रासाद बनाये— खाने के लिए यथेष्ट मात्रा में अनाज रखकर वह शेष सबका सब बेच देगा और एक बार अवश्य लाहौर जायगा। कितने वर्ष बीत गये थे और वह अपनी नज्जो की एक भी अभिलाषा पूरी न कर पाया था। उसे याद आया, उसने एक बार सुगंधित तेल की इच्छा प्रकट की थी, लेकिन सुगंधित तो दूर रहा, वह तो साधारण सरसों का कड़ुआ तेल भी पखवाड़े में एक बार तक उसे लाकर न दे सका था। फिर एक बार उसने हाथ मुँह धोने का अँग्रेजी साबुन माँगा था, लेकिन उनके तो कपड़ों को देसी साबुन तक छूए महीनों बीत जाते थे। फिर उसने एक बार मुँह पर मलने वाली सफेद-सफेद मलाई का तगादा किया था जो विदेश से दूध ऐसी सफेद शीशियों में बंद होकर आती है। वह लाला उत्तमचन्द के घर गेहूँ फटकने गयी थी और वहाँ उसने लाला की बहू को यही मलाई लगाकर अपने मस्सों वाले मुख को चमकाते देखा था। और संध्या को जब वह घर गया था तो वह मलाई का तगादा करने से अपने आप को रोक न सकी थी।

वह हँस दिया था—"पगली, इन मलाइयों की जरूरत तो उनको होती है जिनके मुँह काले और कुरूप हों। मेरी नज्जो का मुखड़ा तो यों ही गोटे की तरह दमकता है।" और उसने उसके भरे गोरे गाल पर चुटकी काटते हुए उसे अपने आलिंगन में लेकर तान लगायी थी।

हाय नी तेरा रंग नी नज्जो,
जिवें कनकां पक्कियाँ ने *

लेकिन नज्जो के मुख पर एक काला-सा बादल फिर गया था और

* हाय री नज्जो, तेरा रंग ऐसा है, जैसे गेहूँ की पकी हुई बालियों का।

दुल्ले ने मन में निश्चय कर लिया था कि वह उसकी सब इच्छाएँ पूरी कर देगा।

लेकिन उसके घर पहिले एक बच्चा हुआ, फिर दूसरा, फिर तीसरा और वह अपनी पत्नी की एक भी इच्छा पूरी न कर सका।

नज्जो के अरमान भी अब बदल गये थे। अपने लिए तेल, साबुन अथवा क्रीम का तगादा करने की अपेक्षा अब वह रहीम के कुर्त्ते, शमीम की कमीज़ और नईम की तहमद के लिए शोर मचाया करती थी। अब उसकी सबसे बड़ी आकांक्षा यह थी कि चाँदी के कवच बन जायँ तो पीर क़लन्दर अली से दम पढ़वा कर शत्रुओं की कुदृष्टि से बचाने के लिए वह उन्हें अपने जिगर के टुकड़ों को पहना दे।

भुस मिले अनाज के ढेर को देखते हुए दुल्ले ने सोचा—इस बार तो अवश्य ही उसे कुछ न कुछ सहूलियत हो जायगी और वह लाहौर जाकर, न केवल अपने बच्चों के लिए चाँदी के कवच बना लायेगा, बल्कि नज्जो के लिए तेल, साबुन और क्रीम की शीशी भी ले आयगा।

उसने उडावे को न बुलाया था। दो बीघे की खेती—कौन इतने दाने थे? फिर दो बरस का लगान सिर पर था और लाला उत्तम चन्द का ऋण—और उसने सोचा था कि जितने दाने वह उड़ावे को देगा उनको बेचकर वह अपने बच्चों के लिए ज़रूरत की चीज़ें क्यों न ले आयेगा?

दिन भट्टी बना हुआ था। आकाश से आग बरस रही थी। धूप की तेज़ी के मारे आँखें बन्द हुई जाती थीं और पेड़ों की छाया में बैठे हुए पशु भी हाँफ रहे थे। दुल्ले ने बड़े छाज में दाने भरे और उसे सिर से ऊपर उठा कर उन्हें उड़ाने लगा।

तभी दायीं ओर कुछ मिट्टी-सी उड़ी और फिर बिजली की-सी तेज़ी से वातचक्र घूमने लगा और वह चक्र उसी तेज़ी के साथ घूमता, धूल

उड़ाता, आकाश की ओर बढ़ता उसकी ओर आया—इस तेज़ी के साथ कि छाज उसके हाथ से गिर पड़ा। दुल्ले ने रेत भरी आँखों को मलते हुए देखा कि उसके दानों के ढेर पर भी एक बगूला-सा उठा, दाने बिखर गये और उसके ढेर से भुस के तिनके चक्कर खाते हुए आकाश की ओर उड़ चले।

सामने बगूला उड़ा चला आ रहा था। उसमें भुस के तिनके चक्कर खाते हुए आकाश को छू रहे थे। दुल्ले को यों लगा जैसे वे तिनके न थे, तेल-क्रीम की शीशियाँ, बच्चों के कपड़े और कवच थे।

लेकिन यह तो एक ही था। दिन में कई बगूले उठे और भुस का एक तिनका भी न रहा और दाने भी काफ़ी उड़ गये।

दूसरे दिन जब उसने दाने कोठी में लाकर डाले तो नज्जो ने हैरानी से पूछा, "बस...और भुस?"

दुल्ले के ओठों पर एक विषाद भरी मुस्कान, फैल गयी। दालान की चौखट में बैठते हुए दीर्घ-निश्वास भर कर बोला, "ग़रीबों के लिए बगूले ही आँधियाँ हैं।"

भाई

बित्तो के पिता ने झल्लाये हुए प्रवेश किया:—

"बित्तो एक हज़ार रुपया माँग रही है। अब मैं कहाँ से दूँ?"

"एक हज़ार!" बित्तो के भाई ने आश्चर्य से पूछा। वह थका-हारा दफ़्तर से लौटा था और कपड़े बदल रहा था।

"अभी-अभी यह पत्र आया है। लो देखो!" और पत्र उसके हाथ में देकर बित्तो के पिता क्रोध के आवेश में कमरे के अंदर चक्कर लगाने लगे।

भाई ने पत्र पढ़ा। लिखा था—

"हम लाहौर में एक मकान बनवाना चाहते हैं। ज़मीन तो हम ने किसी न किसी तरह ख़रीद ली है, पर चार ईंटें धरने को रुपया नहीं। हमने डेढ़ वर्ष का वेतन पेशगी ले लेने का निश्चय किया है। सरकार बाद में

> काटती रहेगी। कुछ रुपया बिल्डिंग फंड से भी आ जायगा, परन्तु इतने में तो दीवारें भी खड़ी न होंगी। आप जैसे भी हो, एक हजार रुपये का प्रबंध कर दीजिए। सरकार की काट के बाद मैं आप का रुपया चुका दूँगी......।"

"तो दे दीजिए!" पत्र को बीच ही में छोड़ कर भाई ने कहा, "सरकार का ऋण चुका कर वह आप का रुपया लौटा देगी।"

"रुपया लौटा देगी या नहीं, यह तो बाद की बात है। प्रश्न तो यह है कि इतना रुपया आये कहाँ से? राय अभी तक बेकार बैठा है और सुरेन्द्र को लॉ कालेज में भरती कराना है।"

"परन्तु वह भी तो आप की लड़की है।"

"लड़की है तो ब्याह-कर दी। अपना कर्त्तव्य पूरा कर दिया। आख़िर तुम्हारी दूसरी बहनें भी तो हैं और फिर राय और सुरेन्द्र..."

"किन्तु फिर भी आपको कुछ न कुछ तो देना ही चाहिए।"

"तुम्हारी भी तो बहन है, तुम कुछ सहायता क्यों नहीं करते?"

"मेरी आर्थिक स्थिति आप से छिपी नहीं। फिर भी जो आदेश दीजिएगा, करूँगा।"

"मैं तो इस समय पाँच सौ से अधिक नहीं दे सकता।"

"बहुत अच्छा, मैं भी इतना जुटाने की चेष्टा करूँगा।"

पिता ने भी पाँच सौ दिया, भाई ने भी पाँच सौ। पिता रिटायर्ड तहसीलदार थे और भाई क्लर्क। इस काम के लिए उसने अपनी पत्नी का एक आभूषण बेच दिया।

मकान बने अभी मुश्किल से महीना हुआ होगा कि एक दिन त्रित्तो के पति ने दफ्तर से आकर दो लिफाफे उसकी गोद में फेंक दिये और चुपचाप कपड़े बदलने लगा।

त्रित्तो ने उत्सुकतापूर्वक एक लिफ़ाफ़ा खोलकर पढ़ना आरम्भ किया। लिखा था—

प्रिय सावित्री,

तुम्हें ज्ञात है कि इस महीने सुरेन्द्र को लॉ कालेज में भरती होना है, मेरे पास इस समय रुपया नहीं। तुम उसे एक सौ रुपया प्रवेश-शुल्क के लिए दे देना। फिर यदि सम्भव हो तो बीस रुपया महीना देती रहना, नहीं मैं इस बीच में प्रबंध कर लूंगा। मैं तुम्हें कष्ट न देता, पर विवश हूं।

तुम्हारा प्यारा पिता

....

त्रित्तो ने जल कर कहा—"अभी मकान की सील भी नहीं सूखी और इन्हें रुपयों की पड़ गयी। एक वर्ष भी संतोष न हो सका इनसे। सरकार की काट के बाद यहाँ तो सौ कौड़ियाँ भी नहीं बचतीं, सौ रुपया कहाँ से दूँ!"

पति ने कोई उत्तर न दिया। मौन रूप से मौजे उतारने में व्यस्त रहा। त्रित्तो ने अन्यमनस्कता से दूसरा लिफाफा उठाया और उसे पढ़ने लगी। लिखा था—

प्रिय त्रित्तो,

मैंने पिता जी की मेज पर एक पत्र देखा था जो वे तुम्हें लिख रहे थे। इसमें उन्होंने तुमसे सौ रुपया माँगा है। मुझे मालूम है कि तुम दे न पाओगी, पर यदि तुम रुपया न लौटाओगी तो पिता जी की दृष्टि में

तुम्हारा और भाई साहब का मान घट जायगा। मैं सौ रुपया भेज रहा हूँ। जब सुरेन्द्र आये, उसे चुपचाप दे देना। जैसे-तैसे तुम्हें बीस रुपया मासिक पहुँचाने का भी प्रयास करूँगा।

तुम्हारा भाई

....

उसका पति हाथ मुँह धोने स्नानागार में चला गया। त्रित्तो की आँखों में क्रोध के बदले आँसू छलछला आये।

सतीत्व का आदर्श

सालिग राम जब घर आये तो अकेले न थे। उनके साथ एक सुन्दर युवती भी थी— गोरा रंग, लम्बा क़द, तीखे नक़्श, आँखें चंचल और संकोचहीन !— उसके ओठों पर मुस्कान की ऐसी दीप्ति थी जिसे पान की लालिमा ने और भी बढ़ा दिया था। उसने काले रंग की साड़ी पहन रखी थी, जिसका रजत, तिल्लेदार किनारा, साड़ी की पृष्ठ-भूमि में, उसके सुन्दर मुख ही की भाँति खिल रहा था।

बासन्ती मैले कुचैले वस्त्रों में आवृत्त चूल्हा धौंक रही थी। लकड़ियाँ गीली थीं। बार-बार फूँकने पर भी जलने में न आती थीं। कड़वे धुएँ के कारण उसकी आँखों से निरन्तर पानी बह रहा था। पति को आते देख कर वह उठ कर खड़ी हो गयी। सालिग राम उस नवयुवती को साथ लिये, नशे में चूर लड़खड़ाते डगमगाते, उसके पास

से होकर, दालान में चले गये। वह उन दोनों की ओर निर्निमेष देखती, किसी अदृश्य हाथ से घुमायी जाने वाली पुतली की भाँति, घूमती गयी।

वे दालान में पलंग पर जा बैठे। वासन्ती अपने स्थान पर खड़ी रही। अपने दुपट्टे के आँचल से उसने अपने बहते नेत्र पोंछ डाले। थमने के बदले पानी और बह निकला। आँखों ही का पानी था या दिल का भी? कौन जाने!"

"कटोरी लाओ!"

नशे में चूर शराबी का कर्कश, थर्राता स्वर?

वासन्ती फुर्ती के साथ बर्तनों के टोकरे में से एक चमकती कटोरी साफ करके ले आयी।

सालिग राम ने बोतल निकाली और कुछ, जो शेष रह गयी थी, कटोरी में उँडेल कर उसे मुँह से लगा लिया।

वासन्ती पानी का गिलास लेने चली गयी। जानती थी, अब पानी माँगेंगे।

कटोरी को धरती पर पटकते हुए सालिग राम चिल्लाये—"पानी!"

वासन्ती गिलास लेकर आगे बढ़ी। सालिग राम ने दो तीन कुल्ले किये और गिलास को ज़ोर से पलंग के नीचे पटक दिया। पानी भर से फ़र्श पर फैल गया। वासन्ती फिर अपने स्थान पर, आदेश की प्रतीक्षा में जा खड़ी हुई।

"बंद करो धुआँ......" और एक भारी भरकम अश्लील गाली!

वासन्ती चुपचाप सुलगती हुई लकड़ियों को फूंकने लगी। इस आग और हृदय की आग में कितना अन्तर था? सुलगती दोनों थीं, परन्तु

एक को वह फूंक कर जलाना चाहती थी और दूसरी को धधक उठने से रोकने का भरसक प्रयास कर रही थी !

सालिग राम का एक हाथ उस युवती के गले में था और मदिरालस आँखें उसकी आँखों में ।

"यह आप की पत्नी है ?"

"हाँ !"

"बड़े मैले कपड़े पहना रखे हैं इसको !"

"मैले ?" और सालिग राम ने एक ठहाका लगाया । बोले, "जो जिस योग्य होता है, उसे वही मिलता है ।"

हँसते समय सालिग राम का मुँह खुला और दुर्गन्ध का एक भभका सा युवती की ओर आया । उससे बचने के लिए उसने मुँह पर रूमाल रख लिया ।

सालिग राम समझे—युवती ने पसीना पोछने को रूमाल मुँह पर रखा है । अधीर होकर बोले, "गर्मी है क्या ?" और फिर चीख कर उन्होंने अपनी पत्नी को आदेश दिया—"पंखा लाओ ! गर्मी है । तुम्हें इतनी भी तमीज़ नहीं क्या......?"......और गालियाँ ।

वासन्ती ने सुलगती हुई लकड़ियों पर पानी डाल दिया ताकि धुआँ उठ कर भीतर न जाय । फिर भाग कर पंखा ले आयी ।

"तनिक झुलाओ ! इन्हें गर्मी लग रही है !" सालिग राम ने आदेश दिया ।

वासन्ती शान्त रूप से पंखा करने लगी । उसको— वेश्या को ठंडक पहुँचाने के लिए ! उसके हृदय की सुलगती हुई आग धधक उठी,

परन्तु मुख पर वही शान्ति बनी रही।—उस प्रशांत सागर की भाँति, जिसके गर्भ में बड़वानल धधक रहा हो, पर ऊपर उसका कोई आभास न हो।

गर्मी नहीं थी। वासन्ती को हटा दिया गया।

वेश्या ने—कृत्रिम सौन्दर्य की उस मनहर मूर्ति ने— सालिग राम की कमर में हाथ डाला और निकट होकर—कुछ और निकट होकर पूछा, "वह आप साड़ी कौन सी लाये थे? हमें दिखायी तक नहीं। देख लीं आपकी वफ़ादारियाँ!"

"साड़ी?" सालिग राम ने कुछ सोचने का प्रयास करते हुए कहा "तुम्हारे ही लिए तो लाया था, तुम्हारे ही लिए तो जान!" उन्होंने उसे अपने पहलू से भींचते हुए कहा। और पत्नी को साड़ी लाने का आदेश दिया।

वासन्ती धीरे-धीरे उठी ट्रंक खोल कर साड़ी ले आयी। उसका मन डूब रहा था। कितनी सुन्दर थी! कितने चाव से खरीदी थी। जब आज प्रातः सालिग राम अपने पड़ोसी नन्द किशोर के साथ प्रदर्शिनी देखने गये थे तो उसने अपनी पत्नी के लिए साड़ी ली थी। इनको भी लेनी पड़ी। इस उपहार को पाकर वासन्ती इतनी प्रसन्न हुई थी कि उसकी आँखों में आँसू आ गये थे।

"इनको दे दो!" सालिग राम ने आदेश दिया।

वासन्ती ने तनिक दूर से कपड़े समेट कर साड़ी वेश्या की गोद में फेंक दी।

सालिग राम की आँखों में खून उतर आया। "यह क्या? इन्हें छूने में संकोच करती हो? इन्हें घृणा की दृष्टि से देखती हो? तुम्हें इन को छूना होगा—इनके पैरों को छूना होगा। पड़ो इनके पैरों में। पड़ो! छुओ!"

निमिष भर के लिए वासन्ती असमंजस की दशा में खड़ी रही। क्या वह उस वेश्या के पैरों में जा गिरे ? उस वेश्या के, जिस का स्पर्श भी पाप है। परन्तु वह उसके पैरों पर झुकेगी। उसके देवता तुल्य पति का आदेश है। और वह बढ़ी।

किन्तु सालिग राम में इतना धीरज कहाँ ? उन्हें तो अपनी प्रियतमा को अपने प्रेम का प्रमाण देना था। तड़प कर पलंग से उठे और वासन्ती को गर्दन दबोच, उसे वेश्या के पावों पर झुका दिया। और फिर ज़ोर से फर्श पर पटक दिया।

वासन्ती का माथा फट गया। अत्याचार के निरन्तर प्रहारों से अशक्त होकर उसके संयम का बाँध टूट गया। उसने कराहते हुए कहा, "वेश्या ही को घर में क्यों न बैठा लिया, मेरी क्या आवश्यकता थी ?"

सालिग राम सिर से पैर तक ज्वाला बन गये। पत्नी का यह दुस्साहस! भाग कर बुझी हुई लकड़ी उठा लाये और औंधे मुँह फर्श पर पड़ी हुई वासन्ती को धड़ाधड़ पीटने लगे।

नन्हा बच्चा एक कोने में छोटी सी चारपाई पर दुबका पड़ा था ? माँ को पिटते देख कर पुकार उठा—"माँ ?"

"चुप रह कम्बख़्त !" सालिग राम गरजे और नशे में चूर, लकड़ी उठाये, बच्चे की ओर बढ़े।

तभी वेश्या ने उनका रास्ता रोक लिया और मुस्कराती हुई बोली, "कितने निर्दयी हो, उठाओ बेचारी को। शरीर से रक्त बहने लगा है।"

लकड़ी फेंक कर सालिग राम ने पत्नी को एक ठोकर लगायी और चिल्ला कर बोले, "उठती हो या उठाऊँ ?"

वासन्ती निश्चेष्ट पड़ी रही। सालिग राम क्या, उनके देवता भी अब उसे न उठा सकते थे। ऐसी नींद सोयी थी वह।

काले साहब

समाज मन्दिर में पंडित जी सुधार के पूर्ण आवेश में भाषण दे रहे थे—"हमारे देश की देवियाँ— वे देवियाँ जो पतिव्रता थीं, सती और साधवी थीं, जो अपने पति की सेवा ही को स्वर्ग मानती थीं, आज अपने आदर्श से गिर गयी हैं। पश्चिमी सभ्यता ने उनके आँखों पर पट्टी बाँध दी है। अपनी गृहस्थी से ऊब कर वे सम्बंध-विच्छेद की माँग करने लगी हैं। मैं कहता हूँ सम्बंध-विच्छेद के विधान से हमारे घरों की प्रसन्नता समाप्त हो जायगी। हमारे समाज की जड़ें खोखली हो जायँगी और यह विशाल-वृक्ष सदा के लिए धरती पर आ रहेगा। स्त्रियो, देवियो, तुम्हें वाटिका की तितलियाँ न बन कर, घर की देवियाँ बनना चाहिए और सतीत्व के अपने पुरातन आदर्श पर चलना चाहिए। इसी में जाति का कल्याण है; इसी में समाज का कल्याण है; इसी में देश का कल्याण है......"

और समाज-मन्दिर के बाहर वासन्ती की अर्थी जा रही थी "राम नाम सत्य है", "राम नाम सत्य है" के स्वर में 'राम नाम' की ध्वनि न आकर केवल 'सत्य है' 'सत्य है' की आवाज़ आ रही थी, मानो पंडित जी के ज़ोरदार भाषण का समर्थन कर रही हो।

बरूँसी का फूल और भैंस

प्रिय त्रिपाठी,

यह पत्र मैं तुम्हें मन की ऐसी स्थिति में लिख रहा हूँ कि यदि कहीं कुछ तेज़ बात लिखी जाय तो तुम क्षमा कर देना। तुम्हारे वाला नुस्खा मैंने अभी कल ही आज़माया है और उससे मुँह में जो कड़ुवाहट रह गयी है, उसमें तुम्हें साझीदार बनाने और कुछ अपने मन की ग्लानि को दूर करने के लिए तुम्हें ये चंद पंक्तियाँ लिखने बैठ गया हूँ।

सर शाह का नाम तो तुमने सुना ही होगा। अरे भाई सर टीकम लाल शाह, जिन्होंने हाल ही में हॉकी एसोसीएशन को पचास हज़ार रुपया दान दिया है और जो महाराज 'ठिक्की' के कथनानुसार न केवल महान दानवीर हैं, बल्कि जिन्होंने भारत की आलम्पिक टीम को विदेश जाने का अवसर देकर भारत की लाज रखली है।

'ठिक्की' तुम्हें शायद मालूम हो ठीकरी के महाराज हैं, जिन्हें

उनके मित्र और प्रशंसक प्रेम से केवल 'ठिक्की' कह कर पुकारते हैं— बहरहाल उनके इस प्रचार का यह फल हुआ है, कि सर शाह को स्पोर्टस-प्रेमी ही नहीं, साहित्य, संगीत, कला, नृत्य— समस्त कला-कौशल का प्रेमी मान लिया गया है। इधर तो प्रान्त भरमें कहीं कोई सम्मेलन, उद्घाटन संस्थापन हो, सभापति, उद्घाटन-कर्त्ता अथवा संस्थापक के लिए पहले उन्हीं का नाम लिया जाता है। उन्हें अवकाश न हो, तब किसी अन्य सज्जन को कष्ट दिया जाता है। प्रान्त के क्षितिज पर सर टीकम लाल के उदित होने से लगता है, कुछ दिनों के लिए मिनिस्ट्री को भी आराम मिल गया है, नहीं बेचारे अपने विभागों का काम देखने के बदले साँझ सवेरे उद्घाटन, संस्थापन करते फिरते थे।

इन्हीं सर टीकम लाल ने ऊपर सिविल लाइन्स में एक कोठी खरीदी है और रानीखेत के जन-साधारण का मत है कि अंग्रेजों के चले जाने के बाद यहाँ सहसा जो पतझड़ छा गया था, उसमें फिर बहार आने वाली है। बलराज और नरोत्तम ने यह समाचार सुना तो बोले—"लो भाई मिश्र, तुम्हारे दिन तो फिर गये। ऐसा कला-प्रेमी दानी यहाँ सदा गर्मियाँ गुज़ारने आयगा। समझो घर बैठै गंगा चली आयीं। अब भी तुम डुबकी न लगाओ तो तुम्हारा भाग्य!"

तुम भी त्रिपाठी मुझे सदा कोंचा करते थे कि यदि मैं किसी बड़े आदमी की सरपरस्ती प्राप्त न करूँगा तो गुमनामी के गर्त्त में पड़ा सड़ता रहूँगा। इसलिए बलराज और नरोत्तम के ज़ोर देने पर मैं मान गया कि यदि सर शाह की सरपरस्ती प्राप्त करने में मित्र मेरी सहायता करें तो मुझे आपत्ति न होगी।

बलराज लखनऊ के प्रसिद्ध विद्वान और विश्वविद्यालय के

प्रोफेसर डा० बसु को भलीभाँति जानता था। इधर गर्मियाँ काटने के लिए वे रानीखेत आने लगे हैं। सर शाह से उनकी बड़ी घनिष्ठता थी। (उन्हीं दिनों हुई होगी जब हैलट के राज्य में वे बड़े पदाधिकारी थे।) खैर भाई डा० बसु की सीढ़ी से सर शाह तक पहुँचने का निर्णय मित्रों ने किया। पहले बलराज नरोत्तम को लेकर सर शाह से मिला और बातों-बातों में उन्होंने मेरा जिक्र किया। जब डा० बसु ने मेरे अस्तित्व पर आश्चर्य प्रकट किया और कहा कि उन्होंने तो इस नाम के कलाकार का कहीं उल्लेख भी नहीं सुना तो बलराज बोला कि मिश्र तो बरूँसी का फूल* है। जंगल में खिलने और अपनी रक्ताभ ललाई से निर्जन को उद्भासित करने वाला। जब तक कोई ऐसा कवि न मिले जो इस फूल की महिमा गाये, कोई ऐसा जौहरी न मिले जो इस रत्न को गुमनामी के सागर की गहराइयों से निकाल कर संसार की चकित आँखों के सम्मुख रखे, तब तक वह अज्ञातावस्था ही में पड़ा अपनी आभा बिखेरता रहेगा। बलराज और नरोत्तम ने मेरी कुछ ऐसी प्रसंशा की, डा० बसु के औत्सुक्य को कुछ ऐसा जगाया कि उन्होंने उस कवि अथवा जौहरी का भार अपने सिर लेकर मुझे गुमनामी से निकालने का प्रण कर लिया। एक दिन बलराज और नरोत्तम की अरदल में वे मेरे चित्रागार में आये। हिमाद्रि के हिममंडित शिखरों के चित्र देख कर बड़े प्रभावित हुए। मेरी बड़ी प्रशंसा की। मैंने भी उनका एक स्केच वहीं बनाकर उन्हें भेंट किया (कि मित्रों ने इसका परामर्श दिया था।) जाते समय डा० बसु ने सर शाह से मेरा ज़िक्र करने की बात कही और इस बात का

---

*बरूँसी का फूल बसन्त के दिनों में कुमायूँ के जंगलों में अनायास खिल उठता है और ललाई में टेसू से कई गुना सुन्दर दिखायी देता है।

विश्वास दिलाया कि वे अवश्य सर महोदय को मेरे चित्रागार में लायेंगे और सर शाह निश्चय ही सारे के सारे नहीं तो चार छै चित्र अवश्य खरीद लेंगे।

डा० बसु अपनी व्यस्तता में (वे आजकल एक पुस्तक लिख रहे हैं) अपना वचन भूल न जायँ, इसलिए बलराज और नरोत्तम उनके पीछे लगे रहे। अन्ततोगत्वा डा० बसु ने एक साँझ जब सर शाह को चाय पर निमन्त्रित किया तो मुझे और बलराज को भी बुला भेजा और जैसा कि अंग्रेज़ी में कहते हैं, मुझे सर शाह के हुज़ूर में 'प्रेज़ेंट' किया। डा० बसु ने सर महोदय से मेरी कला की बड़ी प्रशंसा की और उनसे मेरा चित्रागार देखने का अनुरोध किया। मैंने भी बातों-बातों में सर शाह को अपने यहाँ चित्रागार देखने और चाय पीने की दावत दे दी। सर शाह ने पहले तो संकोच प्रकट किया, फिर जब मेरे अनुरोध का समर्थन डा० बसु और बलराज ने भी किया तो वे मान गये।........."

बलराज ने ठीक ही कहा था। मिश्र सच ही कुमायूँ की पहाड़ियों में खिला बरूँसी का फूल था जो अपने आप पहाड़ियों में खिल उठता है और अपनी रक्ताभ ललाई से जंगलों को रंगीन बना देता है।

मिश्र के पिता साधारण दुकानदार थे। निचले बाज़ार में उनकी जनरल मर्चेंडाइज़ की दुकान थी, जहाँ पुस्तकों से लेकर खिलौनों तक सभी कुछ मिलता था। किसी ज़माने में जब रानीखेत में अंग्रेज़ों का आधिपत्य था और उन्हें अलमोड़ा और नैनीताल की घुटन के मुकाबिले में रानीखेत की स्वच्छ विशालता पसंद थी तो मिश्र के पिता की भानमती के पिटारे की सी दुकान खूब चलती थी। उन्होंने अपने

लड़के को पहले ज़िले के स्कूल मे मैट्रिक कराया फिर प्रयाग से बी० ए० । मिश्र ने मैट्रिक में ड्राइंग ली थी। उसके पिता का विचार था कि लडका इंजीनियर बनेगा और यदि गर्म पानी से गेठिया तक का इलाका उसके चार्ज में आ जायगा तो एक ही वर्ष में वह कोठी खड़ी कर लेगा और वे निचले बाज़ार से उठ कर ऊपर चले जायेंगे और न्याज़ अहमद के मुकाबिले में दुकान लेंगे। गर्म पानी से गेठिया तक के पहाड़ इतने कच्चे हैं, बरसात के दिनों में सड़क इतनी बार टूटती है कि इंजीनियर ओवरसीयर और ठेकेदार चाहें तो हजारों बना लेते हैं। मिश्र के पिता इसी साध को मन में पाले थे, पर उनके बेटे का रुझान उस ओर कदापि न था। इंजीनियरी की बोरियत के बदले वह प्रकृति के सौन्दर्य का उपासक था। जब क्लास में प्रोफेसर गहन विषयों पर अपने विद्वत्तापूर्ण भाषण देते तो, मिश्र कुमायूं की हरी-भरी पहाड़ियों में रमा करता। जब उसके मित्र ज्योमेट्री, ट्रिग्नोमेट्री और अलजब्रा के प्रश्न हल करते तो वह नदी नालों शिखरों और गधेरों के स्केच बनाया करता। इंजीनियरी में प्रवेश-पत्र पाने के लिए जिस फर्स्ट डिवीजन की आवश्यकता थी, वह उसे न मिला। उसने इतनी ही बहादुरी दिखायी कि फ़ेल नहीं हुआ। थर्ड डिवीज़न में पास हो गया और आकर अपने यहाँ मिडिल स्कूल में अध्यापक बन गया।

परन्तु अध्यापकी से वह संतुष्ट हो गया हो, यह बात नहीं। घर में अपने बच्चों की किल-किल और स्कूल में दूसरों के बच्चों की चिल्ल-पों से जब उसका मन ऊब उठता तो वह अपनी बैठक में (जिसे वह तब भी चित्रागार कहता था) जा बैठता और पहाड़ों के सौंदर्य को कागज पर उतारने का प्रयास किया करता।

उसका चित्रागार उसके पिता की दुकान के सामने, ऊपर की मंज़िल में था। टूटी सी सीढ़ी, फिर लकड़ी का दारजा और एक बड़ा सा

कमरा। जिसकी छत नीची थी और फर्श कच्चा था, पर जिसे मिश्र के कलाकार ने इस अनुपम ढंग से सजा रखा था, कि उसकी एक-एक चीज़ को घंटों देखने को मन करता था—यू० पी० हैंडीक्राफ्ट की गद्दियाँ और तकिये; जयपुर की रंगीन छोटी दरियाँ, अलमोड़ा वोकेशनल सेंटर के रंगीन पर्दे; मुलतान के फूलदान; काश्मीर के धूप-दीप दान; जयपुर की हाथी दाँत की मूर्तियाँ—इन में से अधिकांश चीजें सेकेंड-हैंड डीलरों के यहाँ से आयी थीं। अँग्रेज़ जब गये और उनके साथ कश्मीरी दुकानदार भी, तो मिश्र ने उनसे बहुत सी चीज़ें सस्ते दामों खरीद कर अपने चित्रागार को सजा लिया। बाह्य जीवन के कोलाहल में उसका यह चित्रागार, उसका शान्ति-निकुंज बन गया।

युद्ध के दिनों में कुछ जर्मन आर्टिस्ट नज़रबन्द होकर रानीखेत आये। कला के भूखे मिश्र के हृदय को उन कलाकारों के सान्निध्य से बड़ा लाभ पहुँचा। उसने उनसे कलाकार की तीव्र-दृष्टि और गहराई पायी और अपने ही वातावरण को सजीवता से अंकित करना सीखा। पार्वत्य-प्रदेश की विभिन्न ऋतुओं के सौंदर्य को, जंगलों और फूलों की बहार को, उमड़ते घुमड़ते, बरसते बादलों और हिमाद्रि के हिम मंडित शिखरों की अनुपम छटा को उसने एक नयी दृष्टि से देखा। कला पर भी धीरे धीरे उसका अधिकार हो गया और उसकी अपनी शैली भी बन गयी जिसमें अजंता और एलोरा का लालित्य और राजस्थानी कला के रंगों का उभार न था, पर प्रकृति की रूखी-सूखी चट्टानों और पहाड़ों की हरी-भरी चोटियों का विचित्र लावण्य था। उन चित्रों से उसकी बैटक सचमुच चित्रागार बन गयी।

कला के एक प्रसिद्ध पारखी ने मिश्र की कला को देख कर कहा कि भारत की कला-कृतियों में प्रकृति-चित्रण का जो अभाव रहा है, उसे मिश्र ने बड़ी हद तक दूर कर दिया है। पर उनकी इस सम्मति से मिश्र का प्रोत्साहन चाहे जितना हुआ हो, न उसे आर्थिक

लाभ हुआ, न बरूँसी के फूल की बहार को रानीखेत से बाहर किसी ने जाना।

तभी हम मित्रों ने (बलराज और नरोत्तम उनमें शामिल हैं) जो मिलिट्री के पे-आफ़िस में काम करते थे और क्लब के कारण मिश्र से जिनकी घनी मैत्री हो गयी थी, उसे परामर्श दिया कि यदि वह मौन रूप से कला की आराधना करता रहेगा तो निर्जन में अपना वैभव बखेर कर मुरझा जायगा। बाहर न उसे कोई जानेगा, न पूछेगा।

देश को स्वतंत्रता मिलते ही अँग्रेज़ चले गये। उनके साथ ही रानीखेत की तीन चौथाई रौनक़ खत्म हो गयी। मिश्र के पिता का कारबार चौपट हो गया और मिश्र को अपने चित्रों के लिए रंग-रौग़न के लाले पड़ गये। तब हमने रानीखेत आने वाले दो एक प्रोफ़ेसरों की सहायता से प्रयाग और लखनऊ के विश्वविद्यालयों में मिश्र के चित्रों की प्रदर्शनियाँ करायीं। कुछ चित्र बिके। पर उनसे जो आय हुई, वह ऊँट के मुँह में ज़ीरे वाली बात थी। तब मैंने मिश्र को परामर्श दिया कि उसे कोई कला का प्रेमी धनी सरपरस्त ढूँढ़ना चाहिए। प्राचीन कलाकार, राजाओं, महाराजाओं की छत्रछाया में अपनी कला-कृतियों का सृजन करते थे। ये और ऐसी बहुत सी बातें मैंने मिश्र को समझायीं। वह तैयार भी हुआ कि मैं इस सम्बंध में उसकी कुछ सहायता करूँ, पर तभी मेरी तब्दीली हो गयी। और मैं रानीखेत से चला आया। किन्तु लगता है कि मेरी बात उसके दिल को लग गयी। तभी उसका यह पत्र आया।......

"इतवार को मुझे छुट्टी होती है," मिश्र ने अपने पत्र में लिखा, "इसलिए मैंने सर शाह को इतवार ही की साँझ को निमंत्रित किया। बलराज, नरोत्तम और डा० बसु से कहा कि वे अवश्य आयें, नहीं

मुझसे तो बात भी न होगी। स्टूडियो तो ख़ैर मेरा ऐसा बुरा नहीं कि उसमें किसी को बुलाया न जा सके, परन्तु घर की दशा तुम से छिपी नहीं। चाय का प्रबन्ध कैसे होगा? इसकी चिन्ता लगी रही। इस समस्या के समाधान में भी बलराज और नरोत्तम ही मेरे आड़े आये, "अरे भई न्याज़ अहमद किस मर्ज़ की दवा है," उन्होंने कहा, "क्राकरी-आकरी सब वहाँ से आ जायगी, नौकर हम भेज देंगे, सब प्रबन्ध ठीक से हो जायगा।"

नरोत्तम और बलराज वहाँ से क्राकरी ले आये; जोशी की दुकान से बढ़िया समोसे, बाल और खोये के चॉकलेट बनवाये, जो कुमायूँ की खास सौग़ात है, नरोत्तम ने अपना नौकर भेज दिया,जिसने पालक के पकौड़े, दही-मटर और आलू की चाप्स तयार कर दीं, बलराज मार्केट से पलम, पपीता, आड़ू और आम ले आया और स्टूडियो के पिछली ओर को जो बारजा है, वहीं अंगीठी में कोयले डाल कर केतली चढ़ा दी गयी कि सर शाह के आने पर गर्म-गर्म चाय ढाली जा सके।

सर शाह ठीक पाँच बजे आये। उनके साथ उनके सपुत्र और डा० बसु भी थे। डा० बसु बंगाली हैं, पर लखनऊ में रहकर वे भी लखनऊ के अदब-आदाब सीख गये हैं। जब सर शाह मोटर से उतरे तो वे उनके आगे, ख़ास लखनवी ढंग में, दोनों हाथों से रास्ता बताते हुए ऊपर आये। तभी जब वे बारजे पर पहुँच कर सर शाह के लिए मार्ग छोड़ एक ओर हो गये तो अस्तोन्मुख सूरज की एक जाती हुई किरण उनकी गंजी चाँद को चमकाते हुए उनके मुख की सभी रेखाओं को उभार गयी— सभी उन रेखाओं को, जो उनकी सफलता का कारण भी हैं और साक्षी भी।

तुम हँसोगे कि सर शाह के बदले मेरी दृष्टि डा० बसु की चाँद पर ही क्यों पड़ी, पर दृष्टि और मन की गति अगम है। आँख क्या-

क्या देखती है और मन क्या-क्या सोचता है। इसका कोई हिसाब नहीं। उस समय मेरा जी चाहा कि यदि सुविधा हो तो क्षण भर में चाटुकारी से भरी उन रेखाओं को कागज़ पर उतार दूँ। मैंने बाद में स्मृति से डा० बसु का स्केच बनाया भी, जिसमें उस क्षण को बाँधने का प्रयास मैंने किया, पर वह बात नहीं बनी।

खैर सर शाह और उनके पीछे-पीछे हम सब चित्रागार में आये। कमरे के मध्य चादर बिछा कर मैंने चाय का प्रबन्ध कर रखा था, पर बैठने से पहले सर शाह ने चित्रों को दृष्टि भर देख लेना श्रेयस्कर समझा। सामने लगे हिमालय के चित्रों की ओर संकेत कर बोले, " ये सब आप ही के बनाये चित्र हैं ?"

उत्तर डा० बसु ने दिया :

"मिश्र बड़ा मँझा हुआ कलाकार है। हिमालय के विभिन्न मूड्ज़ (Moods) को जितना इसने पकड़ा है, किसी ने नहीं पकड़ा।"

सर शाह तनिक और आगे बढ़कर चित्रों के पास चले गये। "हा हा हा, खूब खूब, हि हि हि !" डा० बसु की बात के उत्तर में उन्होंने हँस कर इतना ही कहा। उनके सपुत्र के मुख पर किसी प्रकार की भावना प्रकट नहीं हुई। न उस समय, न बाद को।

सर शाह म्याने कद और गठे हुए शरीर के आदमी थे। उनका पेट भी खूब मोटा था और ओठ भी। रङ्ग अत्यन्त काला था। हँसतें थे तो पान से काली होने के बावजूद दंतावली चमकती सी दिखायी देती थी। मेरा विचार था, वे धोती के ऊपर बंद गले का कोट पहने होंगे, पर वे सूट में आवृत्त थे। लेकिन सिर पर उन्होंने हैट के बदले सूट से मैच करते हुए रंग की टोपी पहन रखी थी, जिसके पिछली ओर उनकी चोटी की ज़रा सी नोक

दिखायी देती थी। उनकी वह हँसी मुझे बड़ी दिलचस्प लगी। साधारणतया लोग या 'हा हा' कर के हँसते हैं, या 'हि हि' कर रह जाते हैं। पर सर शाह बात कहने से पहले सहसा 'हा हा हा' कर हँसते थे और फिर बात समाप्त करके 'हि हि हि' कर देते थे।

"अच्छा तो यह काहे की सीनरी है?" उन्होंने एक चित्र की ओर संकेत करके पूछा।

"नन्दा देवी की।" बलराज ने बताया।

"और यह?"

"त्रिशूल है।" नरोत्तम बोला, "रानीखेत से नज़र आने वाली बरफ़ानी चोटियों में दायीं ओर जो तीन चोटियाँ साथ-साथ हैं, वही हैं ये।"

"और यह?" सर शाह ने एक और चित्र की ओर संकेत किया।

"इसमें त्रिशूल पंच-चूलिया और नन्दा देवी—पूरी की पूरी रेंज (Range) है," डा० बसु बोले, "देखिए हिम को ब्रश के चन्द ही स्ट्रोक्स से मिश्र ने कैसा बाँधा है? हमारे प्रीमियर ने लखनऊ की प्रदर्शनी से इनके साथ के दो चित्र गवर्नमेंट हाउस के लिए खरीदे हैं, आपके ड्राइंग रूम में ये बहुत अच्छे लगेंगे।"

सर शाह ने इसका कोई उत्तर नहीं दिया। क़द्रे हैरान हो कर उन्होंने पूछा, "पर हिमालय के चित्र कहाँ हैं?"

यदि सर शाह सर शाह न होते और मुझे डा० बसु और बलराज आदि का भय न होता तो मेरे ओठों से अनायास ठहाका फट पड़ता। पर मैं बरबस हँसी को दबा कर रह गया। इस प्रयास में मेरे मुँह से एक शब्द भी न निकला। किन्तु मेरी मुश्किल डा० बसु ने आसान कर दी। अपने ओठों को कानों तक फैला कर उन्होंने कहा, "सर, ये सब हिमालय ही के तो चित्र हैं। ये त्रिशूल, पंच-चूलिया और नंदा देवी हिमालय ही की चोटियाँ हैं। रानीखेत

से जो बरफ़ानी चोटियाँ दिखायी देती हैं, वे हिमालय ही की तो हैं। इन चित्रों में कलाकार ने भिन्न-भिन्न शिखरों को लिया है, और इस चित्र में सारी की सारी रेंज का चित्र आँका है।"

"हा हा हा, खूब खूब, हि हि हिं," सर शाह हँसे और चाय की ओर पलटे। अन्य चित्र देखना उन्होंने आवश्यक नहीं समझा। नौकर से मैंने चाय लाने को कहा और तश्तरियों से कपड़ा उठाया।

गर्म-गर्म चाय प्यालों में ढाली गयी। डा० बसु ने समोसों की बड़ी प्रशंसा की और एक समोसा मुँह में रखते हुए कहा कि पं० जवाहर लाल को समोसे बड़े पसंद हैं।

"किसी ज़माने में पसंद होंगे," सर शाह ने सहसा गंभीर होकर कहा, "आज कल तो उन्हें वही चीज पसंद है, जिस पर लार्ड माऊंट-बेटन के किसी भाई की मुहर हो।"

सर टीकम लाल शाह और उनके मुँह से ऐसी नास्तिकता की बात! डा० बसु ने आश्चर्य्य से मुँह बा दिया। तब सर शाह ने पंडित जवाहर लाल के सम्बंध में अपने दो अनुभव सुनाये और हमें बात समझ में आ गयी।

"पिछले दिनों जब काश्मीर में लड़ने वाले सैनिकों और वहाँ के शरणार्थियों की सहायता के लिए पंडित जी ने अपील निकाली," सर शाह ने पालक के पकौड़े मुँह में रखते हुए कहा, "तो किसी अंग्रेज़ी कम्पनी ने एक लाख सिगरेट काश्मीर में लड़ने वाले सिपाहियों के लिए दान दिये। पंडित जी ने विशेष रूप से इस बात की चर्चा की और बार-बार उस कम्पनी की प्रशंसा की। एक लाख सिगरेट (डिब्बे नहीं, केवल सिगरेट, क्योंकि डिब्बों की बात होती तो संख्या एक लाख न हो सकती।) आखिर कितने के होंगे? बढ़िया से बढ़िया भी हों तो पाँच सहस्र से अधिक के न होंगे। काश्मीर के शरणार्थियों की सहायता के लिए मैंने तीन हज़ार कम्बल पंडित जी को भिजवाये। इस बात का कहीं

उल्लेख करना अथवा उसका धन्यवाद देना तो दूर रहा, हमारे प्रधान मंत्री ने उन कम्बलों की रसीद तक नहीं दी। जब दो-तीन पत्र लिखे गये तो उनके सेक्रेटरी ने दो पंक्तियों की एक सूचना भेजी कि आपके कम्बल मिल गये हैं और काश्मीर भेज दिये गये हैं।"

"धन्यवाद तक नहीं लिखा?" डा० बसु ने ऐसे आँखें फाड़ दीं जैसे वे कोई अनहोनी बात सुन रहे हों, "और ये लोग अंग्रेज़ों को दोष देता है। अंग्रेज गला भी काटता था तो शुक्रिया के साथ। पाँच रुपये का भी एक कम्बल लगायें—आजकल पाँच रुपये में चादर भी नहीं आती—तो भी पन्द्रह हजार के हुए।"

"नये कम्बल थे," सर शाह ने कहा, "तीस हज़ार के होते, पर इकट्ठे लिये गये थे इसलिए पच्चीस हज़ार के मिल गये।"

और उन्होंने अपनी रौ में दूसरी बात सुनायी।

"पिछले वर्ष इलाहाबाद में पत्रकारों का सम्मेलन हुआ। पं० जवाहर लाल ही उसका उद्घाटन करने आये हुए थे। मुझसे कुछ पत्रकार मित्रों ने कहा कि सर शाह आपको एक डिनर देना पड़ेगा। मैंने दो हज़ार रुपया इस खाते में लगा दिया। परन्तु उसी रात रेडियो से केन्द्रीय सरकार का एक आर्डिनेन्स प्रसारित हुआ कि तीस से अधिक लोगों को किसी पार्टी में नहीं बुलाया जा सकता। पत्रकार थे दो अढ़ाई सौ के लगभग, डिनर स्थगित करना पड़ा। पर हम ने तो दो हज़ार दान कर दिया था। और दान दे दिया सो दे दिया। सोच हुई कि इस रुपये का क्या किया जाय? प्रयाग हम जितने दिन रहते हैं अवश्य त्रिवेणी-स्नान को जाते हैं। प्रातः त्रिवेणी में स्नान करके हम ने जो

भगवान में ध्यान लगाया तो प्रेरणा हुई कि उस रुपये को हम कमला नेहरू अस्पताल के लिए दे दें। पंडित जी तो इलाहाबाद में थे ही। हम ने दो सहस्त्र रुपये का चैक जेब में डाला और स्वराज भवन जा पहुँचे।

पंडित जी अंदर व्यस्त थे। कई लोग बाहर उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे। हम भी उनके दर्शनार्थियों के साथ बैठ गये। बैठे-बैठे जब हमको आधा घंटा हो गया तो हम ने पूछ-ताछ की और एक साहब को, जो बार-बार अंदर बाहर जाते थे और जिनके सम्बन्ध में मालूम हुआ कि उनके सेक्रेट्री हैं, अपना नाम दिया।

सेक्रेट्री महोदय ने कहा, "आप बैठिए, मैं अभी आपका नाम अंदर देता हूँ।" और वे चले गये। आध घंटा और गुज़र गया। जब वे फिर बाहर आये तो हमने चैक निकाल कर उनके हाथ में दिया और कहा कि हमें तो यह दान भर देना था और कोई काम हमें नहीं है। आप यह चैक पंडित जी के हाथ में दे दीजिएगा। हम जाते हैं।

तब सेक्रेट्री महोदय ने हाथ जोड़े। हमसे कहा कि पाँच मिनट हम और कष्ट करें और वे चैक लिये हुए अंदर चले गये।

कुछ क्षण बाद सचमुच, पंडित जी दरवाज़े में प्रकट हुए। सब लोग हड़बड़ा कर उठे। पर वे पूरा उठ भी न पाये थे कि एक क्षीण सी मुस्कान के साथ, जो न जाने किसके लिए थी, पंडित जी ने किसी व्यक्ति-विशेष की ओर देखे बिना, अंग्रेज़ी में कहा, "आप लोगों से भेंट ही नहीं हो सकी।" तनिक और मुस्कराये और जैसे प्रकट हुए थे वैसे ही अंतर्धान हो गये।"

बलराज ठहाका मार कर हँस उठा। नरोत्तम भी चुप न रह सका। डा० बसु ने, जो इस कहानी का एक-एक शब्द पी रहे थे

आश्चर्य से यह दर्शाते हुए खीसें निपोर दीं कि देखिए दुनिया क्या से क्या हो गयी है।

सर शाह 'हा हा हा' और फिर 'हि हि हि' कर हँसे, पर उस हँसी में विचित्र सी खिसियाहट थी। तब नरोत्तम ने कहा, "आप भी सर शाह किन-किन कुपात्रों को दान देते हैं। आप को मिश्र ऐसे कलाकारों की सहायता करनी चाहिए। बदले में यदि आप एक पोर्ट्रेट (Portrait) भी पा जायँ तो उसका मूल्य कभी हज़ारों लाखों हो सकता है।"

"अच्छा तो आप पोर्ट्रेट भी बनाते हैं!" सर शाह हँसे, "हा हा हा, खूब खूब, हि हि हि।"

डा० बसु भी अपनी निद्रा से जगे और उन्हें अपने कर्तव्य का भान हुआ।

"पोर्ट्रेट पेंटिंग में मिश्र बड़ा निपुण है," उन्होंने मेरी पीठ थपथपाते हुए कहा "वह देखिए, सामने लगा मज़दूर का चित्र! इसने पाँच मिनट में खींचा। आपने मेरे ड्राइंग रूम में लगा मेरा चित्र नहीं देखा, वह भी इसी का खींचा है।"

और उन्होंने शाबाशी के रूप में फिर मेरी पीठ थपथपा दी।

सर महोदय ने उनका संकेत नहीं समझा अथवा समझ कर भी टाल गये। उन्होंने कलाई पर लगी घड़ी देखी, चाय की अन्तिम चुस्की ली और डा० बसु के उत्तर में "हा हा हा, खूब खूब, हि हि हि!" कर दिया।

मैं सच कहता हूँ त्रिपाठी, मुझे बड़ी ग्लानि हुई। मैंने अपने आप को उस लड़की सा अनुभव किया जिसको देखने वाले लोग आये हुए हों। अपनी पसंद या नापसंद के सम्बन्ध में कुछ भी संकेत न कर रहे हों और जिसके अभिभावक कभी उसके एक गुण का बखान करें, कभी दूसरे का और वह लड़की ग्लानि से मरती जाय।

चाय पीकर सब उठे। बाहर के दरवाज़े के दोनों ओर, अंदर की तरफ़, मैंने अजंता के दो चित्र बना रखे हैं। तुमने भी जिनकी कई बार प्रशंसा की है। क्षण भर के लिए सर शाह की दृष्टि उन युवतियों के अर्ध-नग्न मांसल शरीरों और उनकी रेखाओं पर गयी। तभी डा० बसु ने कहा :

"सर शाह, ये दोनों चित्र तो आप के ड्राइंग रूम में होने चाहिएँ। इसी प्रकार, दरवाज़े के दोनों ओर! मिश्र से कहिए कि बढ़िया कपड़े पर इन्हें बनाये। अजंता का आर्ट है यह!"

"हा हा हा, अजंता का आर्ट तो हमारे घर ही में है, हि हि हि!" सर शाह ने बाहर निकलते हुए कहा "मेरे लड़के की सुसराल है वहाँ! हा हा हा......हि हि हि......!"

उस समय अपने उस प्रयास की असफलता पर यद्यपि हमारे सब के चेहरे उतर गये थे। पर सभी सर शाह की इस बात पर 'हा हा हा, हि हि हि' कर उठे। जब सर महोदय, उनके सुपुत्र और डा० बसु मोटर में सवार हो गये और मोटर चली गयी तो बलराज ने चिढ़ कर कहा :

"यह सब अपने मतलब के दानी हैं। इनके दान और कला-कौशल की सरपरस्ती में अपना मतलब छिपा रहता है। तुम ठहरे अज्ञात कलाकार। तुम्हारी सरपरस्ती से उन्हें क्या लाभ?"

मैं चुप रहा। अपने इन मित्रों पर मुझे अत्यन्त क्रोध आया, जिन्होंने मुझे अपने मार्ग से हटा कर ऐसी कष्ट-प्रद स्थिति में डाल दिया।

तभी तुम्हारी याद भी आयी, क्योंकि वास्तव में इस स्थिति का उत्तरदायित्व तुम्हीं पर है, परन्तु मैंने अपने आपको क्षमा कर दिया हो ऐसी बात नहीं। जो दूसरे के कहने पर कुएँ में छलांग लगा दे उससे बड़ा मूर्ख कोई नहीं। खैर इस कटु अनुभव से यह समझ तो

आ गयी कि कलाकार को इस समाज और इस के स्तंभ रूपी इन पूँजीपतियों से सरपरस्ती की आशा न करनी चाहिए। उसकी क़द्र और सरपरस्ती यह सड़ा समाज और इसके ये खोखले स्तंभ न कर सकेंगे ।

तुम्हारा
मिश्र

पुनश्च:

अभी जब मैं यह पत्र लिफ़ाफे में बंद करने जा रहा था, डा० बसु का एक नोट मिला है कि सर शाह मेरी कला से बड़े प्रभावित हुए हैं और चाहते हैं कि मैं पंडित जवाहर लाल का एक सुन्दर चित्र बना दूँ तो वे उसे उनके जन्म-दिन पर भेंट कर दें । डा० बसु ने इस सफलता पर मुझे बधाई दी है और लिखा है कि मेरे भाग्योदय में अब देर नहीं। सर शाह पंडित जी के कुछ चित्र भेजेंगे, उनमें से जो सबसे अच्छा हो, उसे चुन कर मैं एक बहुत बढ़िया रंगीन चित्र तैयार कर दूँ । पुरस्कार की मैं चिंता न करूँ, सर शाह कला के बड़े पारखी हैं । चित्र उन्हें पसन्द आ गया तो दाम वे इतने देंगे कि कहने को न रहेगा।

जी में तो आता है, लिख दूँ कि वे कला के जितने बड़े पारखी हैं, वह सब मैं भली-भाँति जान गया हूँ, पर सोचता हूँ कि चुप लगा जाऊँ । कोई अन्य कलाकार चाहे पारिश्रमिक (अथवा पुरस्कार) लेकर दिन भर भैंस के आगे बीन बजाता रहे, पर मिश्र के लिए ऐसा करना असम्भव है ।

मि०

कश्मीरी लाल 'अश्क'

मैं जब हँसता हूँ या हँसाता हूँ (क्योंकि इधर मैंने इस कला में भी खासी निपुणता प्राप्त कर ली है) तो यह भूल जाता हूँ कि मेरा उपनाम 'अश्क' है जिसका अर्थ होता है आँसू और लोग मुझ से कुछ गम्भीरता की आशा रखते हैं।

ऐसा कई बार हुआ है कि किसी मजलिस में मेरे चुटकलों या कहानियों या नकलों से हँसते हुए कोई अचानक पूछ बैठता है,—'जी आपने यह उपनाम कैसे रख लिया। आपकी तबीयत के साथ तो इसका ज़रा भी मेल नहीं।' और सहसा मेरे क़हक़हे थम जाते हैं और चाहे क्षण भर के लिए ही सही, मैं सहसा गम्भीर हो जाता हूँ। क्योंकि सदैव ऐसे प्रश्न के उत्तर में मेरे मस्तिष्क के पर्दे पर एक मित्र का चित्र आ जाता है, जिसका नाम था कश्मीरी लाल और उपनाम था 'अश्क'।

कश्मीरी लाल का कोई फ़ोटो मेरे पास नहीं। कदाचित उनका कोई फ़ोटो इस संसार में शेष नहीं। यद्यपि उनको देखे तेईस-

चौबीस वर्ष हो चुके हैं, याद ने अपने पर्दे पर उनका एक फ़ोटो बना रखा है—लम्बा छरहरा शरीर, उटुंग पायजामा, धारीदार कमीज़, चारख़ाना खादी का कोट और लटकेदार पगड़ी; रंग गोरा, पतले-पतले ओठ, और उदास-उदास आँखें।

कश्मीरी लाल मुझसे चार वर्ष बड़े होंगे। मेरे बड़े भाई मुझ से दो श्रेणी आगे पढ़ते थे और वे मेरे भाई से दो श्रेणी आगे। जिन दिनों मैंने छठी जमात पास की, वे मैट्रिक पास कर चुके थे।

जिस संस्कृति में मैं पैदा हुआ और पला, उसमें बड़ा भाई पिता के तुल्य समझा जाता है। उसके सामने बात करने में अदब का लिहाज़ रखना पड़ता है। इसी प्रकार मुहल्ले के सब बड़े लड़के बड़े भाई के समान होते हैं और उनसे बात करने में भी आदर-भाव आवश्यक समझा जाता है। फिर मुहल्ले में लड़कों की श्रेणी-बद्ध टोलियाँ होती हैं और वयस्क लड़के अपनी-अपनी टोलियों में ही रहते हैं। एक आध श्रेणी के अन्तर से लड़के आपस में मिलजुल भी लेते हैं, पर चौथी श्रेणी का लड़का आठवीं श्रेणी के लड़कों के साथ घूमता फिरे, ऐसा अपवाद स्वरूप ही होता है। आज स्थिति क्या है, यह मैं नहीं जानता, पर उस समय स्थिति यही थी।

इस सूरत में कश्मीरी लाल की सन्निकटता पाना मेरे लिए असम्भव-सा ही था। जिस व्यक्ति का सत्कार मेरे बड़े भाई करें, उससे मैं तो बात भी न कर सकता था। परन्तु कुछ ऐसे कारण हुए कि उनमें और मुझमें दूरी काफ़ी कम हो गयी और एक बार तो कुछ महीने मुझे उनके सम्पर्क में रहने का अवसर भी मिला।

इस दूरी के कम होने का एक कारण तो यह था कि छठी श्रेणी ही से मैं ज़ोर-शोर से कविता करने लगा। कश्मीरी लाल कवि थे और चाहे मैं पंजाबी में लिखता था और वे उर्दू में, पर इतना ज्ञान ही कि वे

कवि हैं, मेरे हृदय में उनके प्रति विशेष श्रद्धा उत्पन्न करने को पर्याप्त था। जिस दिन मुझे अपने बड़े भाई से उनके कवि होने का पता चला उसी दिन से, न केवल उनके प्रति मेरे सहज आदर-भाव में श्रद्धा का समावेश हो गया, वरन् उनकी गति-विधि में भी मेरी दिलचस्पी बढ़ गयी। वे जहाँ खड़े होते, मैं वहाँ किसी न किसी बहाने जा खड़ा होता, उनकी बातों को सुनने का प्रयास करता और उनका कोई न कोई काम कर देने का सौभाग्य पाने की प्रतीक्षा किया करता।

इन सब बातों के होते हुए भी उस संस्कृति में हमारे मध्य वह दूरी पूर्ववत बनी रहती, यदि सातवीं पास करते ही मैं बीमार होकर 'दसूआ' न जाता और कश्मीरी लाल कुछ दिनों के लिए वहाँ न आ जाते।

हुआ यों कि आठवीं में चढ़ते ही मुझे जाड़ा लग कर ताप आने लगा। डाक्टरों ने मलेरिया बताया। उस जमाने में इंजेक्शन और कैप्सूल्ज़ कोई जानता न था, इसलिए कुनीन मिक्स्चर और फ़ीवर-मिक्स्चर से पाला पड़ा। ताप ने ऐसा तूल खींचा कि महीनों दवाई पीने पर भी आराम न आया। आखिर जब कुनीन मिक्स्चर पीते-पीते तंग आ गया और दवाई पीने के बदले गिराने लगा और यह भी डर रहने लगा कि कहीं यह पुराना मलेरिया यक्ष्मा तो नहीं, तो डाक्टरों ने परामर्श दिया कि इसका जलवायु बदल दिया जाय। पिता जी मकेरियाँ-लाइन (पंजाब) के प्रसिद्ध स्टेशन 'दसूआ' में नये-नये स्टेशन मास्टर होकर गये थे, उन्होंने मुझे वहाँ बुलवा लिया।

'दसूआ' यद्यपि बड़ा स्टेशन था पर नगर से डेढ़ दो मील दूर होने के कारण उस पर अधिक रौनक न थी। गाड़ी आने के समय काफ़ी भीड़ हो जाती थी। तभी मैं भी स्टेशन पर जा पहुँचता और साधारणतः जब कोई अफ़सर न आ रहा हो और टिकट बाबू कहीं व्यस्त हों तो गेट पर खड़ा होकर उतरने वाले मुसाफ़िरों से टिकट लेता।

टिकट बाबू स्वयं टिकट ले रहे हों तो मैं बे-टिकट सफ़र करने वालों को पकड़ा करता। स्टेशन मास्टर उस जमाने में स्टेशन का बादशाह होता था। मेरे पिताजी का दबदबा तो लाइन भर में था। हालाँकि एक छोटे से लड़के के टिकट माँगने की बात शायद कुछ लोगों की समझ में न आये, पर मुझे अच्छी तरह याद है कि मेरे स्वर में कुछ ऐसा अधिकार होता था कि बे-टिकट सफ़र करने वाले सदा घबरा जाते थे। जाने क्यों बेटिकट लोगों को पकड़ने में मुझे बड़ा आनन्द मिलता। पिताजी कभी किसी अपराधी को चार्ज न करते। सदा दो एक गालियाँ देकर छोड़ देते। फिर भी इस काम में मेरी मुस्तैदी कम न होती और गाड़ी के खड़े होते ही मैं प्रायः उसकी दूसरी ओर भाग जाता और पीछे से उतरने वालों को जा पकड़ता। कई बार जहाँ इंजन रुकता, वहाँ जा खड़ा होता और गाड़ी के रुकते ही इंजन के साथ वाले डिब्बे से उतर कर चोरी से प्लेटफ़ार्म के बाहर होने वालों से टिकट माँगता। कई बार गार्ड के डिब्बे की ओर जा खड़ा होता और पीछे से निकलने वालों को जा दबोचता। आगे या पीछे से निकल कर जाने वालों में ६५ प्रतिशत बे-टिकट होते।

अब अपनी उस मुस्तैदी का कारण ढूँढ़ता हूँ (विशेषकर उस सूरत में जब पिताजी किसी मुसाफ़िर को चार्ज न करते) तो लगता है है कि नगर की रौनक से सूने स्टेशन पर जाने के कारण यह सब मन लगाने का बहाना मात्र था। फिर पिताजी से मैं बहुत डरता था। वे कभी क्रोध में आते तो बहुत पीटते। मैं इस बहाने उन पर अपनी कार्य-पटुता का सिक्का जमा देता और उनकी व्यस्तता में उनके सम्मुख बने रह कर, फिर कभी सामने न पड़ता।

जो भी हो, एक दिन गाड़ी खड़ी होते ही मैं इण्टर क्लास के डिब्बे में जा चढ़ा, इस विचार से कि थर्ड का टिकट लेकर इण्टर में

यात्रा करने वालों को पकड़ूँ। डिब्बे में बड़े साधारण कपड़े पहने, एक धान-पान-सा युवक बैठा था। इससे पहले कि गाड़ी पूरी तरह खड़ी होती मैं डिब्बे में चढ़ गया।

'टिकट!' मैंने अधिकारपूर्ण स्वर में पूछा।

'मैं......मैं......मेरे......' वह घबरा कर कुछ उत्तर देने जा रहा था कि मेरी दृष्टि उसके मुख पर गयी और मेरे मुँह से आश्चर्य भरे स्वर में निकला "भरा जी!"* और मैं उनके घुटनों की ओर झुका। "पैरीं पैणां आं।"†

कश्मीरी लाल का मुख आश्वस्त और प्रफुल्ल हो गया। सचमुच वे बे-टिकट थे; क्यों? इसका पता बाद में चला।

हमारे मुहल्ले में ब्राह्मणों और क्षत्रियों में चिरकाल से चली आ रही थी। ब्राह्मणों की आर्थिक दशा अच्छी न थी। क्षत्री उन्हें दबाते थे। यह ऋषियों के नाम-लेवाओं को पसन्द न था। इसलिए क्षत्रियों से लड़ाई झगड़े के समय ब्राह्मण इकट्ठे हो जाते थे। यजमानों की नाराज़गी के भय से यदि कोई खुला विरोध न भी करता तो भी सहानुभूति उसकी सदैव अपनी जातिवालों के साथ रहती। हमारे दादा परदादा पटवारी थे, पर हमारा वंश ब्राह्मणों का बड़ा ऊँचा वंश था। पुरखे भारद्वाज के आश्रम में शिक्षा पाये हुए थे। पिताजी ने उस हीनावस्था में भी मैट्रिक तथा संस्कृत पढ़ी थी और अपने बेटों के नाम भी शुद्ध संस्कृत में रखे थे। यद्यपि जहाँ तक कर्मों का सम्बन्ध है, उनमें ब्राह्मणों सी कोई बात न थी। वे खूब पीते और खूब उड़ाते थे। धर्म-कर्म की कोई बात उन्होंने कभी जानी न थी और जाति-पाँति

*भाई साहब

†पाँव पड़ता हूँ = प्रणाम करता हूँ

का बंधन कभी माना न था, परन्तु सहानुभूति उनकी भी मुहल्ले के विपन्न और दुर्बल ब्राह्मणों के साथ रहती। मुहल्ले के ब्राह्मण युवकों को वे सदा पुरोहिताई की गिड़गिड़ाहट छोड़ कर दूसरे धंधे अपनाने और स्वाभिमान से जीवन बिताने का परामर्श दिया करते। रिलीविंग के अपने दौरों पर जाते हुए जब भी घर आते ब्राह्मण युवकों की कुश्तियाँ कराते, उन्हें खिलाते-पिलाते और इनाम देते और छै बेटों से संतुष्ट न होकर किसी न किसी को अपना सातवाँ पुत्र घोषित कर जाते।

कश्मीरी लाल मैट्रिक कर चुके थे। घोर मंदी का ज़माना था। नौकरी उनकी कहीं लगी न थी। भावुक, अनुभूतिशील आदमी थे। बेकारी और इश्क का घुन उन्हें अंदर ही अंदर खाये जाता था। हल्का-हल्का ज्वर भी रहने लगा था। उन्हीं दिनों कहीं पिताजी जालंधर गये। वे कश्मीरी लाल को बहुत मानते थे। मुहल्ले के ब्राह्मण युवकों में उन्हें सबसे योग्य और सुशील समझते थे। उनकी यह दशा देख, उन्होंने स्नेह से दो-चार गालियाँ दीं, उन्हें अपना सातवाँ पुत्र घोषित किया और दसूआ आने का निमन्त्रण दे दिया। कहा कि टिकट लेने की ज़रूरत नहीं। गार्ड से मेरा नाम ले देना। वहाँ कुछ दिन आराम करना। तार का काम सीखना। तार देना आ जाय तो सिंगनेलरी की परीक्षा में बैठ जाना। और उनके परामर्शानुसार कश्मीरी लाल बे-टिकट चले आये थे।

मेरे प्रणाम के उत्तर में 'जिउन्दे रओ'*कह कर मेरी पीठ को हल्के से थपथपाते हुए वे नीचे उतरे।

मैं अपने उल्लास में, लगभग उनके आगे-आगे चलता उन्हें दफ़्तर में लाया। पिताजी लाइन-क्लीयर दे चुके थे। कश्मीरी लाल ने उनके पाँव छुए। पिताजी ने आशीर्वाद दिया और उन्हें बैठने के लिए कह

*जीते रहो

कर गार्ड के साथ चले गये। उनके वापस आने पर कश्मीरी लाल ने बताया कि उनकी तबीयत कुछ अधिक ख़राब रहने लगी थी, इसलिए पिताजी के आदेशानुसार वे चले आये हैं।

पिता जी ने उनके आने पर बड़ी प्रसन्नता प्रकट की और कहा कि उन्हें लाल सुर्ख़ बना कर भेजेंगे।

कश्मीरी लाल वहाँ डेढ़-दो महीने रहे। आये तो उनका रंग कालिमा लिये हुए पीला-पीला था। ओंठ सूखे-सूखे और कल्ले धँसे-धँसे थे। हाँ, आँखों में वही चमक थी और ओंठों पर वही उदास-उदास मुस्कान। दूसरे दिन सुबह स्टेशन पर दातौन करते-करते उन्होंने बलग़म थूकी तो उसमें रक्त की बारीक लकीर थी, परन्तु दो महीने के निवास ही में उनका रंग निखर गया, कल्ले भर आये और गालों पर सुर्ख़ी दौड़ गयी।

दसूआ बहुत प्राचीन नगर है। कहते हैं, विराट राजा वहीं राज्य करते थे, और पाण्डव अपने बनवास के तेरहवें वर्ष को पूरा करने के लिए वहीं आये थे। नगर, स्टेशन के सामने की दिशा में, एक डेढ़ मील की दूरी पर, एक बड़े नाले के किनारे, काफ़ी ऊँचाई पर बना है। राजा विराट के समय का एक टूटा-फूटा पुराना दुर्ग भी वहीं नाले के तट पर खड़ा है। दुर्ग के खंडहरों से नगर के मकानों, नाले की गहराई तथा रेतीले विस्तार का बड़ा सुन्दर दृश्य दिखायी देता है। वहीं दुर्ग के समीप ही सरकारी अस्पताल भी है।

लाइन के इस पार, स्टेशन की ओर को, कुछ ही दूरी पर आमों का एक बड़ा बाग़ है। उससे परे एक विशाल, गहरा, अटकोना तालाब है, जिसके सम्बन्ध में कहा जाता है कि पाण्डवों ने उसे बनाया था। तालाब इतना विशाल है कि एक किनारे पर खड़े होकर सामने देखें तो दूसरे

किनारे पर खड़े शहतूत के विशालकाय पेड़ छोटे-छोटे कचनार के पौधे दिखायी देते हैं। सारा का सारा तालाब कमल के बड़े-बड़े पत्तों से ढका पड़ा है। केवल एक-दो जगह नहाने के लिए थोड़ा-सा स्थान खाली है, जहाँ नगर के मनचले नहाते हैं और कभी-कभी तैरते भी हैं। जब बहार आती है तो सारे तालाब में बड़े-बड़े कमल खिल जाते हैं। पत्ते और कमल, बस उनके सिवा उन दिनों उस मील डेढ़ मील की परिधि में और कुछ दिखायी नहीं देता।

अनाज की बड़ी मंडी होने के कारण 'दसूआ' स्टेशन पर माल चढ़ता-उतरता रहता था। इसलिए पिताजी की आय यथेष्ठ थी। दो गायें और एक भैंस पाल रखी थी। दूध-घी, दही और छाछ का बाहुल्य था। खाने-पीने और घूमने के सिवा कोई काम न था। हम कभी ताल पर चले जाते, कभी मण्डी में, कभी अस्पताल और कभी शहर। पिताजी ने कश्मीरी लाल को तार का एक देशी यन्त्र बनवा दिया था जिसे वे सदा साथ रखते और अभ्यास के लिए उस पर 'गट, गर-गट' करते रहते।

पहले-पहल मुझे उनसे बात करने में संकोच रहा। वे घूमने जाते तो मैं योंही साथ हो लेता। फिर जब उन्हें पता चला कि मुझे भी कुछ शेरो-शायरी का शौक़ है तो वे कभी-कभी मुझे शेर सुनाने लगे। शेरों का अर्थ पूरी तौर पर मेरी समझ में न आता, लेकिन कश्मीरी लाल धीमे-धीमे, बड़ी दर्द भरी लय में गाते और मुझे उनका स्वर बहुत अच्छा लगा करता।

पंजाबी में कविता करते-करते जो मुझे उर्दू में लिखने का शौक़ हुआ, उसमें दूसरे कारणों के अतिरिक्त कश्मीरी लाल के उस दर्दीले स्वर का भी हाथ है। उन दो महीनों में कई बार मैंने उनको दर्द भरी

लय में उर्दू के शेर गाते पाया। स्कूल की पुस्तकों में उर्दू नज़्में पढ़ कर कई बार उर्दू में लिखने को मन होता था, पर पंजाबी में कविता करना सुगम लगता था। कश्मीरी लाल के मुँह से शेर सुन कर मेरे मन में स्वयं शेर कहने की प्रबल साध उत्पन्न हो गयी।

'दसूआ' का वह विशाल तालाब कश्मीरी लाल को बहुत पसन्द न था। मुझे अच्छी तरह याद है, एक बार किनारे के चबूतरे पर आम की छाया में लेटे-लेटे उन्होंने कहा, 'इसमें यदि कमल न होते तो बड़ा अच्छा होता।'

उनकी बात बहुत हद तक सच थी। यद्यपि तालाब में अनगिनत कमल खिले हुए थे, पर वह दृश्य जैसा कि आज भी मुझे याद आता है, बहुत सुन्दर न था। सारा तालाब कमल के बड़े-बड़े पत्तों से घिरा हुआ था। शायद वर्षों और कौन जाने सदियों से उसकी सफ़ाई न हुई थी। बेशुमार पत्ते सड़ रहे थे। डेढ़ दो मील के घेरे के उस तालाब में कहीं पानी नज़र न आता था। कमल के पत्तों में कहीं जगह थी भी तो हरा-हरा और वहाँ छाया हुआ था। कवि कश्मीरी लाल को यह दृश्य बहुत सुन्दर न लगता था। उनका विचार था कि यदि अनगिनत कमलों की अपेक्षा सारे तालाब में नीला-नीला, आँखों को ठंडक पहुँचाने वाला जल होता, उसकी सफ़ाई होती रहती तो किनारे के आम और शहतूत के पेड़ों में, उसकी छटा निराली ही होती। इतने अनगिनत फूलों और पत्तों के बदले यदि कहीं बीच में चन्द खिले फूल होते तो कितना अच्छा लगता, उनको पाने के लिए मन कितना लालायित रहता। लोग तैर-तैर कर वहाँ जाते और फूल लाने में गर्व और सुख पाते। अब कमल खिलते, मुरझाते और सड़ जाते। कोई भी उन्हें न पूछता। कभी सुबह-शाम कुछ लोग अवश्य आते और डुबकी लगा कर ताल के कीचड़ और गढ़ों में पैठ, कमल की जड़ें काट कर ले जाते। उनकी तरकारी

बनती, मुरब्बा और आचार बनता। अजीब सा नाम दे रखा था पंजाबियों ने उन जड़ों को। 'भें'। 'भेड़ की 'भें-भें' से इस कमल की जड़ का क्या संबंध ?' कश्मीरी लाल कभी-कभी कहते और वही व्यंग्यमयी दर्दीली मुस्कान उनके ओठो पर फैल जाती।

कश्मीरी लाल को तालाब में नहाना व तैरना तनिक न रुचता, पर किनारे के शहतूत या आम की छाया में लेटना उन्हे बड़ा भाता। कभी-कभी वे बाग़ की घनी छाया में छोटी-सी दरी बिछा कर जा बैठते और इस प्रकार बैठे अथवा लेटे वे अनायास शेर गुनगुनाने लगते।

मुझे उन शेरों की याद नहीं। वे मैट्रिक पास थे और पंजाब के अधिकांश हिन्दू छात्रों की भाँति छठी तक उर्दू और मैट्रिक तक हिन्दी पढ़े थे। उर्दू शायरी से उनका परिचय अधिक न था। ग़ालिब की एक ग़ज़ल, वह भी कदाचित सुनी-सुनायी उन्हें याद थी।

दिल ही तो है न संगोख़िश्त, दर्द से भर न आये क्यों
रोयेंगे हम हज़ार बार, कोई हमें सताये क्यों

और इस दर्द-भरी ग़ज़ल को वे बड़े ही सोज़-भरे स्वर से गाया करते।

कुछ वर्ष बाद मैंने सुना कि वे एक असफल प्रेमी थे। एक जगह उनकी सगाई हुई थी। वे लड़की को चोरी से देख भी आये थे। वह उन्हें बड़ी सुन्दर लगी थी और कदाचित दृष्टि-विनिमय के अतिरिक्त एकाध बार बातचीत भी हुई थी, परन्तु जब मैट्रिक पास किये हुए उन्हें दो-एक वर्ष हो गये और नौकरी उनकी कहीं भी न लगी तो लड़की वालों ने रिश्ता छोड़ दिया। यह बात कश्मीरी लाल को खा गयी। जीवन में उनका कुछ उत्साह ही न रहा। माँ ने दो-तीन बार उनकी दूसरी सगाई करने का भी प्रयास किया, पर कश्मीरी लाल लड़की वालों को शक्ल तक दिखाने को तैयार न हुए।

उनके शेरों में यही बात और यही ग़म किसी-न-किसी तरह आ जाता था। उन दिनों दैनिक और साप्ताहिक पत्रों में 'आसी' गयावी की बड़ी गज़लें छपा करती थीं। कश्मीरी लाल को 'आसी' के शेर बहुत पसंद थे। एक शेर वे बराबर गुनगुनाया करते थे। इसका पहला मिसरा मुझे याद नहीं पर अर्थ याद होने से मैं लिख देता हूँ।

रीत है इश्क के दरिया की अनोखी कैसी ?
डूबते हैं वही जो पार उतर जाते हैं।

शेर कोई बहुत अच्छा नहीं, पर कश्मीरी लाल को यह अपनी दशा का पूरा चित्रण करता दिखायी देता—इश्क के दरिया का पार उतरना इश्क के लिए कुर्बान हो जाने का ही दूसरा नाम है। इश्क के लिए कुर्बान होने का मतलब है इश्क के ग़म में मर जाना, और मर जाने का मतलब है डूब जाना! जो पार उतरते हैं वही डूब जाते हैं, कैसी नाज़ुक-खयाली है ? कश्मीरी लाल सिर धुना करते।

आज मैं बाईस-तेईस वर्षों के बाद उन दिनों को याद करता हूँ तो मुझे लगता है कि यही शेर कश्मीरी लाल को खा गया। वे उन धान-पान युवकों में से थे जिनकी जीवन-शक्ति सदा किसी सहारे की मुहताज रहती है। जिनमें पुरुषोचित दृढ़ता, इच्छा-शक्ति और निराशाओं, असफलताओं और मुसीबतों को झेल लेने की चट्टानी क्षमता नहीं होती, बल्कि सहारे की नारी-सुलभ आकांक्षा होती है। कश्मीरी लाल बड़े मेधावी, ज़हीन और भावुक युवक थे। यदि उनको अपने पहले ही प्रेम में असफलता न मिलती तो वे निश्चय ही उस स्नेहमयी की छाया में नयी स्फूर्ति पाकर अपना मार्ग बना लेते। लेकिन जवानी के प्रभात में जब नयी वयस सपने देखती है, रोमानी इश्क करती है और पंजाब की हर युवती 'हीर' और युवक 'रांझा' बन जाता है, उस पहले प्रेम की असफलता कश्मीरी लाल को ले डूबी।

मैं उन दिनों कहानी लिखने का भी असफल प्रयास किया करता था। कश्मीरी लाल ने मुझे कहानी लिखते देख स्वयं भी दो बार कहानी लिखने या लिखाने का (क्योंकि वे मुझे लिखाते ही थे) प्रयास किया। वे कहानियाँ कभी सिरे नहीं चढ़ीं। उनकी शुरू की हुई कहानियो के आरम्भिक वाक्य लेकर मैंने बाद में कहानियाँ लिखीं।

पहली कहानी कुछ यों आरम्भ होती है। थी तो बड़ी कठिन उर्दू में, पर उसका हिन्दी रूपान्तर देता हूँ :—

'कल जो व्यक्ति उन्नति के सातवें आसमान पर सिर निकालता हुआ धन-दौलत और मान-प्रतिष्ठा में अपना सानी न रखता था, वही आज अवनति के गहन सागर में ग़ोते खा रहा है। कल जो फूल सम्राज्ञी की सेज को सुशोभित करता नर्म गदेलों पर सोया हुआ था, वही आज कठोर पथ पर पड़ा कुम्हला और धनी-निर्धन सब के पैरों तले रौंदा जा रहा है। कल जो तारा आकाश की ऊँचाइयों में सिर उठाये चमक रहा था, वही आज टूट कर असहाय शून्य में विलीन हो रहा है...आदि आदि।'

और इस प्रकार की उपमाओं से पूरा पहला पृष्ठ भरा था। कहानी का आधार-भूत विचार वही था जो शेर का :

'डूबते हैं वहाँ, जो पार उतर जाते हैं।'

एक लड़के की सगाई एक जगह होनी है, वह लड़की को देखता है। दोनों में प्रेम हो जाता है। लड़की की शादी कहीं दूसरी जगह हो जाती है। लड़का घुल-घुल कर मर जाता है।

जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है मुझे उस जमाने में किसी से इश्क न था। सुन्दर सहपाठी तो अच्छे भी लगते थे, पर अपर-सेक्स का आकर्षण बिल्कुल न था। और उस समय तक नहीं जगा जब तक मैं कालेज में दाखिल नहीं हुआ! इश्क की वे पहली कहानियाँ मात्र काल्पनिक थीं

और उन्हीं कहानियों का संशोधित अथवा परिवर्धित संस्करण थीं जो कश्मीरी लाल लिखना चाहते थे।

एक और शेर था जो कश्मीरी लाल बड़ा पसन्द करते थे। मुझे तो बड़ा हास्यास्पद लगता है और मै इसकी दूसरी पंक्ति सदा मुस्कराते हुए पढ़ता हूँ, पर उन्हें न जाने इसमें क्या लगता था कि सदैव इसे पढ़ते हुए वे एक लम्बी साँस भर लिया करते थे। शेर है उन्हीं 'आसी' गयावी का :

एक 'आसी' ही नहीं तालिबे दीदार तेरा
तालिबे-अब्रे-करम 'नरबदा परशाद' भी है

अर्थात् तेरे दर्शनों का अभिलाषी केवल 'आसी' ही नहीं, वरन तेरी कृपा की वर्षा का आकांक्षी नरबदा परशाद भी है।

[नर्बदा प्रसाद उर्दू में नरबदा परशाद ही लिखा जाता है। यह श्री 'आसी' गयावी का असली नाम है। उनका उपनाम है आसी—जिसका अर्थ होता है गुनहगार—पापी !]

शायर को यदि इस शेर पर गर्व हो (मैं नहीं जानता कि उन्हें था कि नहीं) तो इसका यही कारण हो सकता है कि उन्होंने एक ही शेर में न केवल अपना उपनाम दिया है, वरन नाम भी। परन्तु जहाँ तक अर्थ का सम्बन्ध है, इससे शेर में कोई चमत्कार पैदा नहीं हुआ। किसी शेर में 'नरबदा परशाद' नाम ही बड़ा हास्यास्पद लगता है। कम से कम मुझे। मैं तो जब किसी डिनर अथवा चाय पार्टी में होता हूँ और चाय बनाने वाले (या वाली) अथवा पूरी-तरकारी बाँटने वाले (या वाली) का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करना चाहता हूँ तो सदा यही मिसरा पढ़ता हूँ कि हुजूर 'तालिबे-अब्रे-करम नरबदा परशाद भी है !' अर्थात एक पूरी इधर भी फेंक दीजिए। अथवा एक प्याली चाय हमें भी बना दीजिए !

लेकिन कश्मीरी लाल इस शेर को बड़े दर्द से पढ़ते थे। अब उनके भावों का विश्लेषण करता हूँ तो सोचता हूँ कि पहली पंक्ति में 'आसी' को वे अपना रक़ीब अर्थात् प्रतिद्वंन्द्वी समझते होंगे और दूसरी में 'नरबदा परशाद' अपने आपको। नर्बदा प्रसाद जब नरबदा परशाद हो जाता है तो इस नाम पर ख़ासी यतामत बरसने लगती है। अपनी स्थिति की निराशा, दुख और बेबसी उन्हें इस नाम में मूर्तिमान लगती थी और कदाचित वे अपनी प्रेयसि को सम्बोधित कर पुकार उठते थे।

'तालिबे अब्रे-करम नरबदा परशाद भी है।'

दो महीने बाद कश्मीरी लाल स्वस्थ होकर लौट गये। मैं कुछ महीने बाद लौटा। 'दसूआ' के जलवायु ने मुझे भी बड़ा लाभ पहुँचाया था। ज्वर मेरा टूट गया। अस्पताल का डाक्टर पिताजी का मित्र था। मेरी बीमारी में व्यक्तिगत दिलचस्पी लेकर उसने मुझे चंद ही महीनों में भला-चंगा कर दिया। आठवीं का दाख़िला शुरू हो गया था और मेरा नये सिरे से आठवीं श्रेणी में प्रविष्ट होना अनिवार्य था। सो जालंधर चला आया। पहली बात जो मैंने माँ से सुनी वह यह थी कि कश्मीरी लाल को दिक़ हो गया है।

'पर वे तो बिल्कुल ठीक थे,' मैंने पूछा।

'जैसे बिल्ली चूहे को खेला कर खाती है, ऐसे ही यह बीमारी आदमी को खाती है।' माँ ने कहा, 'बाहर से आदमी अच्छा-भला लगता है पर अंदर ही अंदर यह खा जाती है।'

'उनका तो चेहरा लाल हो गया था।' मैंने जैसे अपने आपसे कहा।

'चाहे.हो जाय।' माँ बोलीं, 'इस बीमारी से भाग्य वाला ही शफ़ा पाता है।'

कश्मीरी लाल अश्क

मुझे जालंधर आते ही कश्मीरी लाल से मिलने का शौक था। मैंने उर्दू में एक कविता लिखी थी। वह उनको सुनाना चाहता था। उनकी बीमारी का और यक्ष्मा की सी बीमारी का सुन कर बड़ा दुख हुआ।

मैं उस समय यक्ष्मा के सम्बन्ध में अधिक न जानता था, पर मुहल्ले में हर वर्ष एक-दो मौतें इस बीमारी से हो जाती थीं और इसकी भयानकता मुझ पर सुस्पष्ट थी। फिर यह भी मैं जानता था कि जिस घर में इस बीमारी का रोगी हो, वहाँ अधिक जाना न चाहिए। मन में उनसे प्रति-दिन मिलना चाहता था, पर घर वालों के डर से साहस न होता था।

उनमें और मुझ में जो दूरी सहसा कम हो गयी थी, वह फिर अचानक वैसे ही बढ़ गयी। दो-चार बार मैंने उन्हें बाज़ार में अथवा हकीम के घर आते-जाते देखा। रंग उनका काला पड़ता जा रहा था, शरीर सूख रहा था और मुस्कान की तिक्तता बढ़ रही थी। मैं उनके घर न जाता, पर बाज़ार या गली में मिलने पर प्रायः उनके साथ हो लेता। अपने जोश में अपनी कविताएँ सुनाता। वे दाद भी देते पर स्वयं चुप रहते। कभी मन होता तो वही एक पंक्ति गाते।

'डूबते हैं वहाँ, जो पार उतर जाते हैं।'

उनका स्वर क्षीण हो गया था। आवाज़ का दर्द बढ़ गया था। वह दर्दीला स्वर किसी बड़े तीक्ष्ण धार के छुरे की भाँति अप्रयास हृदय को भेदता चला जाता था।

प्रेम के कारण कोई आदमी जीवन को यों नष्ट कर सकता है, यह मेरे लिए सदा एक समझ में न आने वाली बात रही है। मैं तो प्रेम को भी काल्पनिक-सी चीज़ समझता आया हूँ। ऐसा प्रेम होता भी है, मुझे विश्वास नहीं होता। पर लैला-मजनूँ और शीरीं-फ़रहाद को छोड़

भी दें तो बीसवीं सदी के मजनूँ एडवर्ड अष्टम की मिसाल सामने है। मानना पड़ता है।

जाने 'दिल' नाम की चीज़ 'मस्तिष्क' की अपेक्षा कम परिमाण में मेरे पास है या 'शरीर' दिल की अपेक्षा मेरे पास कम रहा है। यह भी हो सकता है कि बचपन से निरन्तर सिर पर पड़ने वाली मुसीबतों ने आरम्भ ही से सतर्क बना दिया है, या फिर मुझे किसी दूसरे की अपेक्षा अपने आप ही से प्रेम है। जो भी हो, ऐसा प्रेम जिसमें अक़्ल दिल की 'पासबानी'* बिल्कुल छोड़ दे, मुझे कभी नहीं हुआ।

बम्बई की एक साहित्यिक महफ़िल में उर्दू के प्रसिद्ध कथा लेखक कृष्णचन्द्र ने 'स्कॉच' के दो पेग पीने के बाद अपने सामने बैठे हुए उर्दू के बे-परवाह युवक-कवि आदिल को सम्बोधित कर, अपनी रौ में नारा लगाया, 'मैं तुम पर फ़िदा हूँ आदिल, साले तू मुहब्बत में खुदकशी कर सकता है।'

मैं हँस दिया। मुझे इस बात पर हँसी नहीं आयी कि आदिल आत्म-हत्या कर सकता था। उसके सम्बंध में प्रसिद्ध था कि वह दो लड़कियों के सिलसिले में दो बार आत्म-हत्या की ठान चुका है। हँसी आयी दो ही पेग पीकर कृष्णचन्द्र के बहक जाने पर। दैनिक जीवन में किसी ने कृष्ण को कभी ज़ोर से बात तक करते नहीं सुना। उसका दाँया हाथ क्या कर रहा है, वह बायें हाथ को नहीं मालूम होने देता। यह पहला अवसर था कि मैंने उसे यों बहकते देखा। मुझे हँसी आ गयी। कृष्णचन्द्र ने समझा मैं आदिल की मूर्खता पर हँस रहा हूँ। दूसरे क्षण वह मेरी ओर देख कर बोला :

'तुम कभी मुहब्बत नहीं कर सकते कमबख़्त, सदियों से ब्राह्मण।

---

*अच्छा है दिल के साथ रहे पासबाने-अक़्ल
लेकिन कभी-कभी इसे तनहा भी छोड़ दे !
—इकबाल

ने जो अक़्ल इकट्ठी कर रखी है, वह सब तुम्हारे भेजे पर लदी है।'

यह अक़्ल का बोझ हो चाहे न हो, पर एक बात प्रकट है। मजनूँ और फ़रहाद वाला इश्क मेरे बस का नहीं। मेरा ख़याल है कि मजनूँ हो चाहे फ़रहाद, रांभा हो चाहे पुन्नू और चाहे बीसवीं सदी का मजनूँ एडवर्ड अष्टम—दिमाग़ नाम की चीज़—'दिमाग़' से मेरा मतलब उस चीज से है जिसे इक़बाल ने 'पासबाने अक़्ल' का नाम दिया है—बड़े कम परिमाण में उनके पास होगी या पेट भरा होने के कारण प्रेम ही कदाचित उनकी सब से बड़ी समस्या होगी। मैं ऐसे मजनूँ-सिफ़त इश्क को ग़ालिब के शब्दों में 'दिमाग़ का ख़लल' ही समझता आया हूँ। लेकिन फिर भी ऐसे लोग मेरे लिए सदा ईर्ष्या का विषय रहे हैं। कई बार झुँझलाहट हुई कि मुझे क्यों ऐसा इश्क नहीं होता कि मैं अपना गत-आगत, कला-कौशल, महत्वाकांक्षाएँ और स्वप्न, सब उसकी वेदी पर चढ़ा दूँ।

'आज मैं रुका यहाँ अनजान
देखता हूँ युवकों का खेल
जवानी नादानी का मेल
सहारा जिसका है अज्ञान

और मैं लिये ज्ञान का भार
नशे में विद्वता के चूर
जवानी की खुशियों से दूर
जला आया कितने उद्यान

सोचता हूँ, 'होकर सप्राण
नहीं क्या इतना सम्भव आज
खेल लूँ दो क्षण को निर्व्याज
भुला कर सभी ज्ञान-अज्ञान'

इस कविता के प्रौढ़ व्यक्ति की ईर्ष्या और विवशता मेरी ईर्ष्या और विवशता रही है—बचपन से अब तक ! दिल ने भड़कना भी चाहा तो दिमाग़ ने अंकुश रख दिया। इसलिए कदाचित 'दिमाग़ का ख़लल' समझने के बावजूद मुझे कश्मीरी लाल से सहानुभूति थी। यह भी कौन जाने कि प्रेम की चिन्ता के साथ बेकारी का ग़म उन्हें न खाये जाता था। उनको दिन प्रतिदिन घुलते देख कर मुझे बड़ा दुख होता।

धीरे-धीरे कश्मीरी लाल ने बाहर निकलना कम कर दिया और फिर वे बिस्तर के बन्दी हो गये।

मैं स्कूल से आकर खाना खा रहा था कि मैंने माँ को पड़ोसिन से कहते सुना—'थोड़े दिन का मेहमान है, अब बिस्तर तो धरती पर कर दिया है बसन्ती ने।'

बसन्ती कश्मीरी लाल की माँ का नाम था, मेरे लिए खाना खाना मुश्किल हो गया। मुँह का स्वाद कड़वा-कड़वा-सा हो गया। किसी-न-किसी तरह चार कौर निगल कर मैं उठा। माँ से बिना पूछे मैं उस गली में गया जिसे 'भवाड़ा' कहते थे और जिसके अंत में कश्मीरी लाल का मकान था। मकान कहना शायद ग़लत है। एक कोठरी अँधेरे कुएँ से आँगन में थी; एक रसोई-घर तथा उसके पीछे एक कोठरी सरी मंज़िल पर; और एक चौबारा छत पर। इन तीनों कोठरियों

में सारा कुटुम्ब रहता था जिसमें माँ-बाप, बड़े भाई की बीवी, एक बच्ची, कश्मीरी लाल और दो छोटे भाई—सब रहते थे। मकान के ऐसे ही दो और भाग थे। जिनमें दूसरे शरीक निवास करते थे। तीन ओर बंद और चौथी ओर गली होने के कारण मकान एक ऐसे अंधे कुएँ सा लगता था जिसकी दीवारों में कबूतरों के काबकों-सी कोठरियाँ बना दी गयी हों। गली भी अँधेरी थी और. सीढ़ियों में टटोल कर चढ़ना पड़ता था।

मैं एक दो बार पहले भी बिना माँ से पूछे कश्मीरी लाल को देख आया था। दूसरी मंज़िल में रसोई-घर के पीछे, जो कोठरी थी, उसमें एक पलंग बिछा रहता था, उसी पर वे लेटे रहते थे। सिरहाने की ओर राख से भरा मिट्टी का एक प्याला रहता, जिसमें वे थूकते थे। कोठरी में पलंग से ज़्यादा जगह न थी। बस इतनी ही जगह थी कि आदमी खड़ा रह सके।

वहाँ पहुँचा तो देखा कि पलंग उठा दिया गया है। कच्चे फ़र्श पर बिस्तर बिछा है और उस पर कश्मीरी लाल का कंकाल लेटा है।

कश्मीरी लाल पहले भी कोई मोटे न थे, पर उनका क़द लम्बा था। बिस्तर पर जिस व्यक्ति को मैंने लेटे देखा, वह तो लगता था जैसे दो बित्ते का है। हड्डियों की एक मुट्ठी भर!

मुझे देख कर मुस्कान की क्षीण-सी रेखा उनके ओंठों पर फैल गयी। उस आकृति पर वह मुस्कान बड़ी भयानक लगी। मैंने हाथ जोड़े और चुपचाप कोठरी की दहलीज़ पर बैठ गया। कुछ क्षण ठहर कर योंही कुछ कहने को मैंने पूछा, 'कैसा जी है भरा जी ?'

कश्मीरी लाल बोले नहीं, हड्डी-सा हाथ तनिक उठा कर उन्होंने हवा में बहा दिया कि चल रहा हूँ। फिर कुछ रुक कर तिक्त-क्षीण-मुस्कान के साथ उन्होंने कहा—

'डूबते हैं वही, जो पार उतर जाते हैं।'

मैं यह शेर उनके मुह से कई बार सुन चुका था, इसलिए समझ गया कि उन्होंने यह शेर कहा है। दूसरा होता तो समझ न पाता, ऐसी क्षीण आवाज़ थी उनकी.।

कंठ में मेरे कुछ गोला-सा उभर आया। सान्त्वना देने की कोई बात न थी और रुकना निरर्थक था। मैं उठा। दोनों हाथ मस्तक पर ले जाकर मैंने उन्हें प्रणाम् किया।

'तुम महान लेखक बनोगे।' उन्होंने आशीर्वाद दिया और मुस्कान उनके ओठों पर फैल गयी। मैंने देखा उसमें तिक्तता का लेश न था। मेरे मन में छठीं श्रेणी ही से लेखक बनने की आकांक्षा थी। कश्मीरी लाल के आशीर्वाद से मुझे लगा कि मेरे महान लेखक बनने के मार्ग में अब कोई बाधा न रहेगी।

तीसरे दिन उनका देहान्त हो गया।

उन दिनों मेरा तख़ल्लुस 'शनावर' था। शनावर तैराक को कहते हैं। इस उपनाम से मैंने पंजाबी तथा उर्दू में कई चीजें लिखी थीं। कश्मीरी लाल की मृत्यु के बाद मैंने उन्हीं का नाम अपना लिया। क्यों? यह मैं नहीं जानता! कदाचित लड़कपन की भावुकता थी।

उपेन्द्रनाथ के साथ 'अश्क' का पुछल्ला निरर्थक ही लगता है, पर यदि अब फिर उपनाम रखना हो तो मैं यही चुन लूँ। रहे हँसी-क़हक़हे, तो जैसे दिल के साथ अक़्ल के पासबां की ज़रूरत है, वैसे ही हँसी-क़हक़हों के साथ अश्क की भी। जीवन में आँसू न हों तो हँसी-क़हक़हों का लुत्फ़ ही शेष न रहे।

———

मर्द का एतबार

अपनी पत्नी शान्ता की मृत्यु के एक महीने बाद प्रो० गुप्ता हमारे घर आये तो बड़े उदास थे। जब चाची जी ने बातों-बातों में कहा कि शान्ता बहन की अनुपस्थिति में उन्हें बड़ा अकेला-अकेला लगता होगा, बच्चों की देख-भाल में भी कठिनाई होगी और संकेत किया कि उन्हें दूसरी शादी कर लेनी चाहिए तो प्रो० साहब फट पड़े—"शान्ता जैसी सुन्दर, सौम्य और सुघड़; सुशील, समझदार और हमदर्द बीबी अब कहाँ मिलेगी ?" उन्होंने कहा, "कभी जब मैं सोचता हूँ कि शान्ता के निधन में मैंने कितनी बड़ी निधि खो दी है तो मन अनायास भर सा आता है......"

और प्रो० साहब जब तक बैठे रहे अपने वैवाहिक जीवन की सुखद, मधुर घटनाएँ सुनाकर शान्ता जी के सुघड़ापे, सुन्दरता, सौम्यता, हमदर्दी और समझदारी का बखान करते रहे।

उनके जाने के बाद चाची जी उनके पत्नी-प्रेम और उनके सफल

वैवाहिक जीवन का ज़िक्र करके आर्द्र हो आयीं और फिर जब तक प्रोफ़ेसर साहब दोबारा न आये, वे दिन में एक-न-एक बार ज़रूर उनका ज़िक्र करती रहीं।

दूसरी बार पंद्रह दिन बाद जब प्रो० साहब फिर आये तो मैंने देखा कि यद्यपि उनके मुख पर उदासी की झलक पूर्ववत है, पर उसकी गहराई छूट गयी है। चाची जी के पास बात करने को कदाचित् कोई दूसरा विषय ही न था। उन्होंने फिर उनके अकेलेपन और बच्चों के पालन-पोषण की बात चला दी।

चाची जी के पास बैठे, स्वेटर में सलाइयाँ चलाते-चलाते, मैंने गुप्ता साहब की ओर देखा। लगा कि बादलों को भेद कर सूरज चाहे पूरी आब-ताब से नहीं चमका, पर निमिष भर के लिए उसकी दीप्ति, बादल में छिपी रहकर भी, पूरे आकाश में कौंध गयी। मुस्करा कर उन्होंने कहा, "आप ठीक कहती हैं। मैंने भी सोचकर यही तय किया है। एक जगह बात पक्की कर ली है......।"

"कहाँ ?" चाची जी ने प्रसन्न-बदन होकर, उपालम्भ भरे स्वर में कहा, "और हमें बताया तक नहीं।"

"मेरे एक सहयोगी प्रोफ़ेसर हैं," गुप्ता साहब बोले, "उन्हीं की बहन है, शकुन्तला। इसी साल बी० ए० पास किया है। शान्ता का मुकाबला तो क्या करेगी, पर मित्र ने ज़ोर देकर फाँस लिया है। मैंने भी सोचा पढ़ी-लिखी लड़की है। बच्चों से ईर्ष्या-द्वेष न करेगी।

"बी० ए० पास है। तब तो बड़ा अच्छा है।" चाची जी ने सोल्लास अभिमत प्रकट किया।

"नहीं अच्छा तो क्या है," प्रो० साहब बोले, "शान्ता के रिक्त स्थान की पूर्ति तो अब कहाँ हो सकती है। यह तो घाव सदा के लिए दिल में रह गया। लोगों की आँखों से बचा रहे, इसलिए यह

आयोजन है और उन्होंने लम्बी साँस ली। और करुणा-मिश्रित स्वर में यह दोहा कहा :

कबिरा निज मन की बिथा, मन ही राखो गोय।
सुनि अठिलैहैं लोग सब, बाँटि न लैहैं कोय॥

रात को चाची जी लेटीं तो उन्हें नींद न आयी। वे ज़रा रोमानी स्वाभाव की स्त्री हैं। चाचा जी की अन्यमनस्कता का दुखड़ा रोते हुए प्रो० गुप्ता की प्रशंसा करने लगीं कि उन्हें शान्ता से कितना प्यार है। "हम मर जायेंगे तो कोई हमें याद भी न करेगा।"

और उन्होंने दीर्घ-निश्वास छोड़ा।

परन्तु जब गुप्ता साहब शादी करके आये तो चन्द्रमा की कान्ति के सागर में कहीं बहुत नीचे डूब जाने वाली मन्द तारिका सी शान्ता का कहीं पता भी न था।

जब तक प्रो० साहब बैठे, शकुन्तला जी की गुन-गाथा छेड़े रहे—कैसी शिक्षा, कैसी संस्कृति, कैसा सौष्ठव—उनकी एक-एक अदा का वर्णन वे सविस्तार करते रहे। चाची जी का मन उन्होंने शकुन्तला जी की बातों से ऐसा लुभाया कि उन्होंने प्रो० गुप्ता से दूसरे ही दिन शकुन्तला जी को लेकर आने और खाना खाने का वचन ले लिया।

उनके जाने के बाद ही चाची जी नौकर को खाने के बारे में आदेश देने लगीं। उन्हें शकुन्तला के भाग्य से ईर्ष्या हो आयी। चाचा जी पैसा कमाने की कला में कितने भी सिद्धहस्त क्यों न हों, पर प्यार की कला में वे गुप्ता के पासंग भी न थे। चाची जी की बातो और लम्बी साँसों से यही धारणा मैंने बनायी। दिया जले चाचा जी घर आये तो अपने स्वभाव के अनुसार बच्चों को खिलाने-पिलाने, रेडियो

लगाने, राजा रानी की कहानियाँ सुनाकर उन्हें सुलाने में निमग्न हो गये और चाची जी लम्बी आहें भरने लगीं।

दूसरे दिन प्रो० साहब अपनी नव-परिणीता पत्नी के साथ खाना खाने आये तो उनका मुख उस दपर्ण सा देदीप्यमान था, जिस पर सूरज का प्रतिबिम्ब सीधा पड़ रहा हो। शकुन्तला जी की उपस्थिति के प्रकाश से मानों वे ओत-प्रोत थे। उनकी प्रत्येक भंगिमा, प्रत्येक स्मिति और बात का बिम्ब प्रोफ़ेसर साहब के मुख पर झलक उठता था।

उस समस्त उल्लास के बावजूद जो चाची जी नव-दम्पति की आवभगत में प्रकट कर रही थीं, मैंने उनके मुख पर कई बार ईर्ष्या की झलक देखी। और एक दो बार उनकी दबी साँस भी सुनी। जब खाना खाने के बाद प्रोफ़ेसर साहब शकुन्तला जी के साथ विदा हुए तो चाची जी ने शकुन्तला देवी के भाग को सराहा, जिन्हें ऐसा प्यारा साथी मिला था।

और शकुन्तला जी का भाग्य था भी सराहने योग्य, क्योंकि जब प्रोफ़ेसर साहब फिर आये तो शकुन्तला जी के गुणों का बखान करते हुए उन्होंने शान्ता के उन दुर्गुणों का भी ज़िक्र किया जो अब तक उनकी आँखों से छिपे थे। ऊँट पर चढ़े हुए आदमी को ऊँट ही बहुत ऊँचा और उपयोगी मालूम होता है। पर यदि सुयोग से उसे हाथी मिल जाय तो उसके हौदे पर बैठे हुए उसे ऊँट की अकिंचनता का पता चलता है। प्रो० साहब की स्थिति कुछ उस ऊँट वाले जैसी ही थी। हाथी की मस्तानी चाल के आगे ऊँट की बेढंगी चाल, हाथी की पहाड़ सी पीठ के आगे ऊँट का कूबड़ और हाथी की विज्ञता के आगे ऊँट की अज्ञता और भी द्विगुण होकर उन्हें अखरने लगी। शकुन्तला जी को बच्चों की पढ़ाई और पालन-पोषण का कितना ध्यान है, इसका भी सविस्तार ब्योरा प्रो० साहब ने दिया। बड़े बच्चों को होस्टल में और बच्ची को नर्सरी स्कूल के होस्टल में उन्होंने दाख़िल

करा दिया था। सप्ताह में दो बार वे उन्हें देखने जाती थीं और उनकी छोटी-से-छोटी आवश्यकता का ध्यान रखती थीं।

"पर आपके बच्चे तो काफ़ी छोटे हैं," चाची जी ने आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा।

तब प्रो० साहब ने छुटपन ही से बच्चों को होस्टल में रखने के लाभ पर छोटा सा व्याख्यान दे डाला कि किस प्रकार बच्चे होस्टल में रह कर अपने आप पर निर्भर रहना सीखते हैं और किस प्रकार बच्चों के वे गुण उभर आते हैं जो माता-पिता के लाड़-प्यार के नीचे दबे रहते हैं।

परन्तु शकुन्तला जी प्रो० साहब के बच्चों के दबे-छिपे गुणों को उभारने का पूरा अवसर पाये बिना, अपने पहले बच्चे के प्रसव ही में प्रो० साहब को अपने सहचर्य के अपार सुख से वंचित कर परलोक-गामिनी हो गयीं।

उनके देहावसान के बाद जब प्रो० साहब पहली बार हमारे घर आये तो उनके अपार दुख को देखकर चाची जी की आँखों में आँसू भर आये। प्रो० साहब का मुख एकदम काला पड़ गया था। लगता था जैसे सूरज के बिम्ब से चमकने वाले दर्पण पर एकदम स्याही पुत गयी हो। किस तरह आकर उसने बच्चों को सम्हाल लिया था, किस प्रकार उनकी शिक्षा-दीक्षा के लिए उसने नगर भर के होस्टल देख डाले थे, किस प्रकार वह उनकी नन्हीं-से-नन्हीं आवश्यकता का ध्यान रखती थी। इन सब बातों का बार-बार ज़िक्र करके वे बेहाल हुए जा रहे थे। चाची जी ने बच्चों के भविष्य को लेकर संकेत किया तो प्रो० साहब ने जिस निराशा से सिर हिलाया उससे लगा कि दूसरे जन्म में संभव हो तो हो, पर इस जन्म में शकुन्तला ऐसी लड़की का मिलना निपट असंभव है।

'किन्तु अभी शकुन्तला जी को मरे महीना भी न बीता था कि प्रो० साहब ने किन्हीं सीता जी का ज़िक्र किया, जो स्कूल में मिस्ट्रेस थीं और जिन्होंने प्रो० साहब को पहली बार बताया था कि बच्चे होस्टल में कभी ठीक नहीं रह सकते। होस्टल के टीचर और नौकर साधारण नौकरों की भाँति वह लगन पैदा ही नहीं कर सकते जो आदमी अपने काम में और माता-पिता अपने बच्चों की देख-भाल में कर सकते हैं। कुछ दिन प्रो० साहब ने सीता जी की दूरदर्शिता, व्यावहारिकता और सूझ-बूझ की बड़ी प्रशंसा की। इसलिए जब दो महीने बाद वे अध्यापिका न रह कर मिसिज़ गुप्ता बन गयीं तो मुझे कुछ आश्चर्य न हुआ।

चाची जी तो उनका स्वागत बड़ी धूमधाम से करना चाहती थीं, पर यह साध वे पूरी न कर पायीं। हृदय-रोग उन्हें पुराना था, इस बार जो दौरा हुआ तो चाचा जी की सारी सेवा-सुश्रूषा और डाक्टरों की समस्त औषधियों और इंजेक्शनों के बावजूद वे बच न सकीं।

उनकी मृत्यु के बाद चाचा जी ने फिर शादी नहीं की। बहुत जगह से संदेश आये, मित्रों ने भी बहुत कहा, पर चाचा जी नहीं माने। "संतोष के साथ रहकर और किसी के साथ रहने में कोई तुक ही नहीं।" उन्होंने एक बार कहा और फिर दूसरी बात नहीं की।

प्रो० गुप्ता अब भी कभी-कभी आते हैं। शकुन्तला जी की रोशनी मंद पड़ चुकी है और सीता जी की दीप्ति दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ रही है। मुझे कभी-कभी चाची जी की लम्बी साँसें याद आ जाती हैं और स्वयं मेरे हृदय से दीर्घ-निश्वास निकल जाता है।

नासूर

शादी के दिन सुरजीत ने जल्दी-जल्दी लिखा—

"ईश्वर जी मुझे ले चलो। इसी वक्त। मेरी रूह पिंजरे की तीलियों में सदा के लिए बंद हो जाने वाले पक्षी की भाँति छटपटाती रहेगी। तिल-तिल करके क्या आप चाहते हैं, मैं जलती रहूँ? आपने मुझे यह सब क्यों सिखाया, यह आर्ट, यह कला? मेरी आँखों को इतनी विशालता क्यों प्रदान की? मेरे हृदय को इतना भावुक क्यों बना दिया? मेरे मस्तिष्क को...क्या इसीलिए कि इस समस्त विशालता और भावुकता के साथ, अपनी इन लम्बी-लम्बी अंगुलियों से (जो आपके कथनानुसार ख़ास तौर पर चित्रकला के लिए बनी हैं) मैं लोहे की सलाखों पर रंग किया करूँ........."

और उसकी आँखें छलछला आयीं। आँसुओं की एक-दो बूँदें कागज़ पर ढुलक कर फैल गयीं। कंठ में कुछ गोला सा आकर अटक

गया और हृदय की सिहरन से कलाइयों में पड़ी हुई लाल चूड़ियाँ झनझना उठीं और मस्तक के चाँद का प्रतिबिंब सामने लगी शृंगार मेज़ के शीशे में झिलमिला कर कमरे को रोशन करता हुआ विलीन हो गया।

समीप ही रसोई-घर में अगणित प्लेटों के धोये, साफ़ किये जाने तथा रखे जाने की आवाज़ आ रही थी। स्वादिष्ट भोजनों की सुगंधि वायुमंडल के कण-कण में बसी जा रही थी। नौकरों और प्रबंधकों की चिल्ल-पों के मारे कान पड़ी आवाज़ न सुनायी देती थी। परे हाल कमरे में बारात के बैठने का प्रबंध करने वाले लोगों में ईश्वर का कोई-कोई क़हक़हा गैलरी में से होता हुआ वहाँ आ पहुँचता था और ऊपर बरसाती में ढोलक पर बच्चियाँ गा रही थीं। बालो अपने चन्न (चाँद) से कहती है—

कोई मिश्री दी डली श्रो डली,
श्रो, कल असाँ टुर जाना;
फेर ढूँढेगा गली श्रो गली।*

सुरजीत झुकी-झुकी लिख रही थी। बहुमूल्य साड़ी और बेशक़ीमत आभूषणों में आवृत उसके हुस्न को चार चाँद लग गये थे।

किन्तु ये चाँद शीतकाल के शुक्ल पक्ष की रातों के चाँद थे, जिनकी दीप्ति प्रभात की धुंधियाली के कारण कुम्हलाई हुई हो।

सीधे खड़े होकर साड़ी के छोर से आँखों को पोंछते हुए उसने पत्र को पढ़ा। हाल कमरे से ईश्वर का क़हक़हा फिर गैलरी को गुँजाता हुआ आया।

पत्र को बंद करते हुए उसने नौकर को आवाज़ दी।

---

*पंजाब का देहाती गीत है। अर्थ है—कल हम चले जायेंगे फिर तू हमें गली-गली ढूँढेगा।

रसोई-घर के दरवाज़े पर उसके दादा खड़े थे। उनके चेहरे की नस-नस से उल्लास फूट रहा था। उनके जीवन में जैसे इससे बड़ा उल्लास का दिन फिर न आयेगा। गाल उनके उभर आये थे, आँखें रोशन थीं और दाढ़ी के सफ़ेद बाल जैसे उनके आंतरिक उल्लास के कारण चमक रहे थे।

सुरजीत कुर्सी में धँस गयी। पत्र उसके हाथों में तुड़-मुड़ गया और फिर पुर्ज़े-पुर्जे हो गया।

उसी समय नौकर ने कहा—"कहिए, बीबी जी ?"

"ईश्वर जी से कहो, इतने ज़ोर से न हँसें, सिर में दर्द-सा हो रहा है।"

नौकर पल भर के लिए हैरान सा खड़ा रहा, फिर चला गया।

और सुरजीत ने सोचा—"आज ये इतना जोर से, इतना अधिक क्यों हँस रहे हैं ? पहले तो कभी यों नहीं हँसे !"

पाँच महीने पहले—

वसंत के आरम्भ की दुपहरी में एक पतला सुन्दर युवक ४५, कनाट-प्लेस की सीढ़ियों की ओर बढ़ा— गले में सिल्क की क़मीज़, उस पर अचकन, कमर में चूड़ीदार पायजामा, पैरों में कामदार जूता, और सिर पर सावधानी से बँधी हुई दस्तार— रंग उसका गेहुआँ था। रूप, रंग तथा वेश-भूषा से वह हँसमुख, हसीन-सूरत युवक मालूम होता था। बेपरवाही का उसमें कोई निशान न था। अचकन के बटन अवश्य खुले थे, क़मीज़ के गले का भी और कंठ का सुन्दर ख़म साफ़ दिखायी देता था। पर इतनी सी बेपरवाही तो फ़ैशन में शामिल समझ कर नज़र-अंदाज़ की जा सकती है।

सीढ़ियों के पास आकर वह तनिक रुका। धूप बाहर तेज़ थी और उसके मस्तक पर पसीने की नन्हीं-नन्हीं बूँदें झलक आयी थीं। जेब

से एक तह किया हुआ दूध जैसा श्वेत रूमाल निकाल कर उसने पसीना पोंछा। एक सुख की लंबी साँस ली और फिर बेख़याली में उन चौड़ी सीढ़ियों की दीवार पर अपनी पतली लंबी अँगुली से दिखायी न देने वाली तस्वीरें बनाता हुआ वह धीरे-धीरे चढ़ने लगा।

जिस कमरे में कुछ क्षण बाद वह दाख़िल हुआ, एक आर्टिस्ट का कमरा था। वैसे उसे ड्राइंगरूम भी कहा जा सकता है, पर कमरे में महत्व की चीज़ें कौच, उन पर पड़े हुए रेशमी कुशन या दरम्यान में पड़ा हुआ अख़रोट की लकड़ी का अटकोना मेज़ और मेज़ पर पीतल के चार छोटे-छोटे हाथियों के मध्य रखा हुआ गुलदान या दरवाज़ों और खिड़कियों के भारी पर्दे न थे, बल्कि कमरे की दीवारों पर टँगी हुई चित्रकला की उत्कृष्ट कृतियाँ; अँगीठी के कपड़े की गुलकारी; उस पर पड़ी हुई एक प्रस्तर मूर्ति; एक कोने में रखा हुआ ईज़ल; उस पर फ़िट किया हुआ सिल्क का स्क्रीन; पास ही एक स्टूल पर रखी ट्रे में पैलेट, रंग का डिब्बा और ब्रश आदि थे।

कमरे में उस समय कोई न था। युवक ने बाहर ही से मीठे स्वर में आवाज़ दी, "सुरजीत !"

कमरा खाली था। आवाज़ फिर आयी, "सुरजीत ?"

फिर किवाड़ों पर प्यार भरी टिकटिक और फिर युवक पावदान पर पाँव पोंछता हुआ दरवाज़ा खोलकर अंदर आ गया।

एक निमिष के लिए उसने इधर-उधर चित्रों पर दृष्टि डाली, फिर वह स्क्रीन के पास गया। चारकोल का कुछ स्केच सा बना था। ट्रे से चारकोल उठाकर उसने एक-दो लकीरें बनाते हुए आवाज़ दी —"सुरजीत !"

एक छोटे से युवक ने अन्दर से झाँका—"अभी आती हैं बाबू जी।" और एक प्लेट में कुछ मिठाई ला कर उसने मेज़ पर रख दी, और पूछा, "सोडा पीयेंगे या........."

"पानी !" और फिर, "नहीं-नहीं कुछ भी नहीं......"

नौकर चला गया।

युवक ने मिठाई का एक नन्हा सा टुकड़ा मुँह में रख लिया और बरामदे में जा खड़ा हुआ।

बाहर कमरे में ठंडी हवा रमक रही थी। सामने फुटपाथ पर लगे पेड जो नव-वयस्क होने के कारण अधिक ऊँचे नहीं हो पाये थे, मस्त झूम रहे थे। विशाल सड़क पर एक तांगा जा रहा था और उसमें कोई यौवन-माती जैसे अपनी ही दुनिया में मस्त बैठी थी। नीचे दुकान के सामने एक कार आकर खड़ी हो गयी और उसमें से उतर कर, बटुआ हाथ में लिये तेज़-तेज़ चलती हुई एक साड़ी दुकान के अंदर चली गयी और उसके पीछे सिगार का धुआ उड़ाता हुआ एक सूट ! पास से दो सुर्ख़-सुर्ख़ गालों वाले बच्चे लम्बे कालरों की कमीजें और नीली नेकरें पहने बाइसिकलों पर जैसे उड़ते हुए गुज़र गये ......!

युवक ने एक लंबी साँस ली। वह मुड़ा। अंदर से पाँवों की चाप सुनायी दी और चित्र का फ्रेम उसे दिखायी दिया।

"जीवन भी क्या मन का प्रतिबिंब ही नहीं सुरजीत ? ...." उसने कहना शुरू किया।

लेकिन जिसे वह सुरजीत समझे हुए था वह सुरजीत के दादा निकले—

चित्र हाथों में लिये, उसे देखते हुए वे आ रहे थे। दहलीज़ की ठोकर लगने से गिरते-गिरते बचे—गालों से उनके उल्लास फूटा पड़ता था। खुशी की जैसे किरणें उनकी आँखों से निकल रही थीं।

युवक ने आँख उठाकर देखा—श्वेत दाढ़ी, भोला मुख, मुस्कराते ओठ—सरदार बहादुर सरदार गुरदयाल सिंह को देखते ही उसकी आँखो में पितृ-भाव की एक विचित्र सी श्रद्धा उमड़ पड़ी।

"सुरजीत आज न आयेगी ?" उसने पूछा।

वृद्ध तनिक और समीप चले गये और उन्होंने भेद-भरे स्वर में कहा—"जालंधर में टाटा के एजेंट हैं न सरदार साहब सरदार बलबीर सिंह, उनके पुत्र हैं महेन्द्र सिंह। एम० ए० हैं और अब श्रीनगर काश्मीर में अपनी ब्रांच का काम देखते हैं। वे आज सुरजीत को देखने आयेंगे। जालंधर में दो कोठियाँ हैं उनकी और लाहौर में तथा काश्मीर में......" और उन्होंने कहा—"देखो इस तस्वीर को तुमने सुरजीत की सबसे अच्छी तस्वीर कहा था। सरदार सोभा सिंह और चग़ताई साहब तक ने इसकी प्रशंसा की है, इसे इस कमरे में लगा दें न ?"

व्यंग्य भरी मुस्कान के साथ युवक ने पूछा—"तो वे आर्टिस्ट हैं क्या ?"

हँसते हुए दादा ने कहा......"नहीं...पर ....."

"हाँ—हाँ लगा दीजिए !" वह बोला।

"और ये अवनीन्द्रनाथ, नन्दलाल बोस, कणु देसाई और चग़ताई के चित्रों की जगह भी सुरजीत की बनायी हुई तस्वीरें लगा दीजिएगा। ये सब चित्र शायद वे पसंद न करें। आप को पता है न चरण सिंह......"

"यह तुमने ठीक कहा।" और बुज़ुर्ग जल्दी-जल्दी वापस चले गये।

फिर अवनीन्द्र नाथ ठाकुर के 'स्वतन्त्र मृग' के स्थान पर 'गुरु नानक'; नन्दलाल बसु के 'प्रकृति-पुरुष' के स्थान पर 'दरबार साहिब अमृत सर'; रामगोपाल विजयवर्गीय के 'विकास' के स्थान पर 'गुरु तेग़ बहादुर'; और कणु देसाई के 'बापू' के स्थान पर स्वयं अपने हाथ से बनाया हुआ सुरजीत का अपना चित्र लगाया गया।

जब कमरा विभिन्न कलाकारों के आर्ट की नुमाइश के स्थान पर एक ही आर्टिस्ट के सब तरह के धार्मिक चित्रों की प्रदर्शनी बन गया और वे चित्र, जिन पर भारत के इन उत्कृष्ट कलाकारों ने न जाने कितने बेशकीमत दिन व्यतीत किये थे और सुरजीत ने न जाने किस चाव से लाहौर, शिमला, दिल्ली और कलकत्ता की नुमाइशों से जिन्हें खरीदा था अंदर छोटे से स्टोर-रूम में चले गये (जो मात्र सुरजीत के कला सम्बंधी सामान के लिए रिजर्व था) तो वृद्ध संतोष की एक साँस लेकर बाहर बरामदे में जा बैठे और युवक कौच में धँस गया। लेकिन धँसने से पहिले उसने इतना अवश्य पूछा था, "तो क्या आज मैं जाऊँ ..?" और जब उसने उत्तर में, "नहीं-नहीं आप.. ..." कहते हुए बुजुर्ग उठे थे, तो वह चुप चाप बैठ गया था।

वहीं बैठे-बैठे उसकी आँखे सुरजीत के चित्रों पर चली गयीं— सुरजीत का अपने हाथ से बनाया अपना चित्र। कोई देख ले तो देखता ही रह जाय। यौवन का सवेरा उदय हो रहा था; आँखो में ठंडक पहुँचाने वाली दीप्ति चारों ओर फैल रही थी और दर्शक का मन-प्राण उस ज्योति से भरपूर हो जाता था।

सुरजीत का अपने हाथ से बनाया अपना चित्र..... लेकिन वह जानता था कि उसने उस चित्र पर कितना परिश्रम किया था। उसके हृदय की समस्त शक्तियों ने किस प्रकार उसकी रेखाओं को उभारा था। क्या इसीलिए कि उसे देखकर एक लोहे का व्यापारी उसे पसंद कर ले ?

एक व्यंग्य भरी मुस्कान उसके ओठों पर फैल गयी। उसका दम घुटने सा लगा, लेकिन उसी समय सुरजीत कमरे में दाखिल हुई। पंखड़ियों से ओठ मुस्कराये, लज्जा के भार से दबी सी, जैसे तितली के पंखों सी पलकें फड़फड़ायीं और हाथ जोड़ते हुए जैसे ओठों ही में उसने कहा, "सत्य-श्री-अकाल, ईश्वर जी !"

ईश्वर ! युवक हँसा और फिर, जैसे वह मीलों चलकर कौच में धँसा हो और उठने में उसे कष्ट हो रहा हो, अन्यमनस्कता के साथ अपनी हथेली को कौच पर रख कर उठा और ईज़ल के पास जा कर खड़ा हो गया।

"आप दो दिन आये नहीं ?"

युवक ने उधर देखा और मुस्कराया।

"यह मेरा चित्र, देखिएगा, मेरे सब चित्रों से बाज़ी ले जायगा। मैं कहती हूँ—ईश्वर जी, भावनाएँ मेरे हृदय में इतनी हैं, इतने विचार हैं कि यदि कहीं कला पर मेरा अधिकार हो जाय तो न जाने कैसी कृतियों का सृजन कर दूँ ? 'एक नूर से सब जग उपजिया'—शब्द तो आप ने सुना होगा, पर इस शब्द की आदर्श-व्याख्या (*Idealistic Interpretation*) का ख़ाका भी तनिक देखिए।"

"लेकिन लोहे के व्यापारी शायद इसे पसंद न कर सकें"—कोयला लेकर ख़ाके की कुछ रेखाओं को ठीक करते हुए ईश्वर ने कहा।

सुरजीत का रंग कानों तक सुर्ख़ हो गया और उसने जैसे चौंकी हुई मृगी की भाँति, पहली बार इधर-उधर देखा।

"यह क्या ? यह सब परिवर्तन किसने किया ?" उन चित्रों को देखते हुए सुरजीत ने कहा।

"इसलिए कि लोहे का व्यापारी तुम्हें पसंद करले। जानती हो न चरण सिंह की बात ....."

ये चरण सिंह एक प्रोवेशनरी मेजिस्ट्रेट थे। अत्याधिक ग़रीब के घर पैदा हो कर अपनी मेहनत के बल पर पी० सी० एस० की परीक्षा में ये सर्व-प्रथम आये थे। एक चित्र के अपेक्षाकृत 'नंगेपन' को देख कर उन्होंने कहा था—"जो इन चित्रों को बना सकती है (या शायद कहा था कि जो ऐसे चित्र ड्राइंग रूम में लगा सकती है) वह एक घर

को सुखी नहीं बना सकती—फिर सुन्दरता में चाहे वह हूर ही क्यों न हो ?" उनकी यह बात उनके एक मित्र द्वारा ईश्वर तक पहुँची थी। उस समय तो प्रकट उन्होंने यही कहा था कि लड़की पढ़ी हुई अधिक है और उन्हें इतनी शिक्षित नहीं चाहिए।

"ईश्वर जी......"

और रुआँसी-सी हो कर वह वहीं कौच में धँस गयी और युवक अन्यमनस्कता से चारकोल से स्क्रीन पर लकीरें बनाने लगा।

पाँच वर्ष पहले—

ईश्वर अपने स्टूडियो में मात्र एक रेशमी क़मीज़ और तहबन्द पहने तूलिका हाथ में लिये एक चित्र में रंग भर रहा था। चित्र चूँकि मन की इच्छा के अनुसार उतर रहा था, इसलिए वह साथ-साथ हल्के स्वर में सीटी भी बजाये जा रहा था—'अपूर्ण गान'—जीवन मार्ग पर, किसी शाम के धुँधलके में, जब पश्चिम के क्षितिज पर गहरे नीले बादलों में स्वर्ण-रेखाएँ नदियों सी झिलमिला उठती हैं, एक युवक और युवती आ मिलते हैं। कुछ दूर इकट्ठे चलते हैं; एक दूसरे का परिचय पाते हैं; हृदयों के तारों से प्रेम का संगीत झंकृत हो उठता है, पर अभी वह गान समाप्त नहीं होता कि जीवन-मार्ग का मोड़ आ जाता है, जहाँ से उन्हें अलग होना है......तभी नौकर ने कार्ड देते हुए कहा—"सरदार बहादुर सरदार गुरदयाल सिंह !"

और कार्ड को वहीं रख कर ड्रेसिंग गाउन पहन, वह आगंतुक से मिलने को तैयार हो गया।

आगंतुक सरल स्वाभाव के वृद्ध थे। घनी लंबी श्वेत दाढ़ी और भारी मूँछों में से भी जैसे उनके ओठों की मुस्कान छिन कर चेहरे को प्रदीप्त कर रही थी।

"मैं आपका अधिक समय न लूँगा," उन्होंने सोफ़े पर बैठते हुए

कहा, "मैंने आपके आर्ट की बड़ी तारीफ़ सुनी है। मेरे एक पोती है, एक-मात्र वही मेरी खुशी का केन्द्र है। मेरा लड़का इंजीनियर था। वह, उसकी बीवी, बच्चे सब क्वेटा के भूचाल में दब गये!" और इस घटना की स्मृति-मात्र से उनकी आँखें सजल हो गयीं, "बस एक यही लड़की बच गयी थी," उन्होंने कहना शुरू किया, "पिता ने तरस-तरस कर प्राप्त किया था उसे, बाजे बजवाये थे, शीरीनी बाँटी थी, पर अपने जीवन में वह उसे उसके घर सुखी देखने का चाव भी पूरा न कर सका।"

और अवरुद्ध कंठ को बरबस गीला करके और संयत होकर उन्होंने कहा—"एफ० ए० में अपनी श्रेणी में द्वितीय रही थी। उसे चित्र-कला का बड़ा शौक़ है, यदि आप कुछ समय दे सकें तो......"

ईश्वर ने विनय के स्वर में क्षमा मांगते हुए कहा कि वह ट्यूशन नहीं करता।

वृद्ध कुछ मायूस हो गये, फिर उन्होंने कहा—"मेरी यह इच्छा थी कि आप कुछ न कुछ समय, चाहे सप्ताह में एक बार ही क्यों न सही, उसे अवश्य देते।" और फिर उन्होंने कहा, "उसे बहुत शौक़ है। उसका हाथ भी काफ़ी चलता है। आपको बहुत कष्ट न होगा, सिर्फ़ उसे मार्ग बताने की आवश्यकता है, वह चल पड़ेगी।"

वृद्ध की आकृति में जो प्रार्थना का भाव था और उनके स्वर में जो विनय थी, उसने कलाकर के हृदय को असमंजस में डाल दिया।

और वृद्ध ने फिर कहा—"पिता की वह अत्यधिक लाड़ली थी। अब, जब काल ने उसके सिर से पिता का हाथ उठा लिया है तो मैं उसे यह अभाव महसूस नहीं होने दूँगा। मैं उसकी हर इच्छा पूरी करूँगा।"

यह कहते-कहते उनकी वाणी आर्द्र हो गयी थी और ईश्वर मान गया था।

और जब दो दिन बाद बताये हुए समय पर वह उनके घर पहुँचा था और दरी पर बैठी हुई और काग़ज़ पर किसी चित्र का ख़ाका बनाती हुई, एक तरुणी से वृद्ध ने कहा था—"सुरजीत, ये हैं तेरे नये मास्टर जी" और तितली के पंखों सी फड़फड़ाती, किन्तु लज्जा के भार से झुकी हुई पलकें उठी थीं तो वह मुग्ध-सा रह गया था।

और फिर बाद को वह यह भी भूल गया था कि उसने सप्ताह में मात्र एक दिन आने का वादा किया है।

लेकिन ये सब तो पहले की बातें हैं। उस दिन तो इतना ही हुआ कि स्टूडियो में पड़े हुए ईज़ल, उस पर कसे स्क्रीन और उस पर बनने की बाट जोह रहे चित्र को भूल कर वह विवाह के हेतु किराये पर ली गयी उस कोठी में सुरजीत के दादा का हाथ बटाता रहा था और नौकरों, हलवाइयों, विवाह के अवसर पर आने वाले दूर-नज़दीक के रिश्तेदारों और उनके बच्चे-बच्चियों के शोर में उसके क़हक़हे गूँजते रहे थे।

और जब समय पर दूल्हा तशरीफ़ लाये थे और ज्ञानी ने शब्द पढ़ने आरंभ किये थे तो सुरजीत चुपचाप 'ग्रंथ साहिब' के सामने जा बैठी थी।

इसके बाद एक वर्ष तक श्रीनगर से चिट्ठियाँ आती रही थीं। एक चिट्ठी में उसने लिखा था :

"......सब तरफ़ बहार छायी है। फूल खिले हैं, बग्गू गोशों के विटप फल ले आये हैं, लेकिन मेरे मन का फूल मुरझा गया है और फल शायद अब उसमें कभी न लगे......"

फिर एक चिट्ठी में लिखा :

"......याद है न ईश्वर जी, आपने एक बार कहा था—'मैं तुम्हारे

यहाँ कभी ट्यूशन न करता, यदि यह कहते हुए कि—'पिताकी वह लाडली थी। अब, जब उसके सिर पर पिता का हाथ नहीं रहा, मैं उसे यह अभाव महसूस न होने दूँगा। मैं उसकी हर इच्छा पूरी करूँगा'—तुम्हारे दादा की आँखें आर्द्र न हो जातीं और उनमें कोई स्वर्गिक चमक न झिलमिला उठती!" मुझे आपके मुँह से सुना उनका यह वाक्य बार-बार याद आता है। उन्होंने मेरी सब इच्छाएँ पूरी कीं या मैंने उनकी?"

फिर एक बार लिखा—

"......ईश्वर जी, माता-पिता लड़कियों को सौ-सौ लाड-प्यार से पालते हैं; ऊँची शिक्षा देते हैं; ललित कलाएँ सिखाते हैं—कोई संगीत में निपुणता प्राप्त करती है, कोई अच्छी लेखिका बन जाती है और कोई अभागिनी आर्टिस्ट! फिर माँ-बाप विवाह कर देते हैं—मेरी एक सहेली है, उसकी आवाज में जादू था, पर उसके वाद्य-यंत्रों पर अब धूल पड़ी रहती है और उनके ढकने खोलने में भी उसे कष्ट होता है। एक दूसरी कभी अच्छी लेखिका बनने जा रही थी और उसके पिता बड़े गर्व से, देखने के हेतु आने वालों को, उसकी छपी कविताएँ और कहानियाँ दिखाया करते थे, लेकिन अब उसे समाचार-पत्र तक देखे हफ़्तों बीत जाते हैं। एक तीसरी थी सुरजीत—बड़ी भारी कलाकार बनने जा रही थी, पर अब......

"लेकिन छोड़ो। बाहर सुबह का सूरज कब का निकल आया है। खिड़की के शीशों में से मैं पहाड़ों की बरफ़ानी चोटियों को चमकते देख रही हूँ। रूह बाहर जाकर पहाड़ियों से उसे उदित होते देखने के लिए तड़पती रही है—पर वे तो खर्राटे ले रहे हैं और दस बजे तक लेते रहेंगे......"

ये पत्र कभी पखवाड़े, कभी महीने और कभी दो-दो महीने बाद आते रहे और फिर उनका सिलसिला क़तई बंद हो गया।

पाँच वर्ष बाद—

वसंत के आरंभ की एक दुपहरी में ईश्वर ४५ कनाट प्लेस की ओर ज़रा जल्दी-जल्दी जा रहा था। सिर पर दस्तार ही थी, पर उसे सावधानी से बँधी हुई हम नहीं कह सकते। गले में सिल्क की क़मीज़ थी और उस पर अचकन, लेकिन दोनों का रंग तनिक मैला था। ऊपर की जेब का रूमाल अब निचली दायीं जेब में पड़ा था—दूध जैसा सफ़ेद भी अब वह न था और तह भी अब उसकी नहीं लगी हुई थी। कमर में चूड़ीदार पायजामा था, लेकिन पाँवों में कामदार जूते की जगह सिर्फ़ चप्पल थी—कुछ ऐसी बेपरवाही उसपर छायी हुई थी, जो फैशन में शामिल नहीं कही जा सकती।

आकाश पर, श्वेत, मटमैले, नीले, काले, बादलों के टुकड़े बिखरे थे, जैसे अम्बर के इस विशाल स्क्रीन पर किसी अज्ञात कलाकार ने अपनी तूलिका से कहीं हल्के और कहीं गहरे रंग के धब्बे बना दिये हों। सूर्य पर एक काले बादल का बड़ा सा टुकड़ा छा गया था और दूर कोठियों के सिरों पर धूप चमक रही थी।

वह क्षण भर के लिए रुका। मस्तक पर उसके पसीने की बूँदें नहीं थीं और होतीं भी तो उन्हें पोंछने का वह कष्ट न करता—आज पाँच वर्ष बाद सुरजीत आयी थी। अपने दादा की मृत्यु पर ही। और उसने सुना था कि इस पाँच वर्ष के अरसे में वह तीन बच्चों की माँ बन चुकी है।

सीढ़ियों की दीवार पर लकीरें-सी बनाता हुआ वह धीरे-धीरे चढ़ने लगा, परन्तु प्रत्येक सीढ़ी के साथ-साथ उसकी गति धीमी होती गयी, यहाँ तक कि उनकी समाप्ति पर वह रुक गया।

जिस कमरे में कुछ क्षण बाद वह दाख़िल हुआ वह कुछ ऐसे ही था, जैसे पाँच वर्ष बाद वह कमरा हो सकता है, जिसे इस लम्बे अरसे में एक

बार भी नारी के हाथों ने न छुआ हो—वही पर्दे थे; वही दरी; वही कौच; वही अख़रोट का मेज़ और उस पर रखे हुए पीतल के हाथी, वही अँगीठी और उस पर की प्रस्तर मूर्ति; वही तस्वीरें, जिन्हें इसलिए लगाया गया था कि लोहे का एक शिक्षित व्यापारी उनकी बनाने वाली को पसंद कर ले—सब कुछ वही था, मात्र एक हल्की सी उदासी उन सब पर छायी हुई थी—कम से कम ईश्वर जब उस कमरे में आया तो उसे ऐसा ही प्रतीत हुआ।

आने से पहले उसने आवाज़ दी थी। सुरजीत का नाम लेकर नहीं, नौकर का नाम लेकर! फिर किवाड़ पर टिक टिक की थी, पर उसके न खुलने पर अंदर नहीं आया, बल्कि प्रतीक्षा करता रहा।

तब एक नन्हीं सी चार वर्ष की बालिका ने आकर कहा—"आ जाइए!"

और वह कौच पर जाकर बैठ गया और निर्निमेष उस कली सी नन्हीं बालिका की ओर देखने लगा। माँ जैसा इकहरा पतला शरीर, लम्बी, तीखी नाक, सुन्दर आयताकार चेहरा, फड़फड़ाती पलकें और पत्तियों से ओठ—और हाथ पकड़कर उसने उसे अपनी गोद में खींच लिया—"तुम्हारा नाम क्या है?"

"लाडली!"

'लाडली'—दिल में उसने सोचा—'शायद तुम्हारे आने पर ही सुरजीत ने पत्र लिखना बंद कर दिया था, पर प्रकट उसने उसे गोद में खींच लिया और अनिमेष दृगों से उसके मुख को देखने लगा और फिर उसने उसे चूम लिया......'

तभी सुरजीत एक बच्चे को गोद में उठाये हुए कमरे में दाख़िल हुई। ईश्वर के चेहरे पर तनिक स्याही पुत गयी, जैसे अपराध करते हुए उसे किसी ने पकड़ लिया हो—लेकिन सुरजीत के शरीर में सनसनी

सी दौड़ गयी—ऐसी कि इस पाँच वर्ष के अरसे में तीन बच्चों की माँ बनने पर भी न दौड़ी थी।

एक ओर चुपचाप वह कौच पर बैठ गयी।

ईश्वर सब कुछ भूल गया। सुरजीत इतनी मोटी नज़र आती थी कि वह हैरान था, यह वही सुरजीत है या कोई और। आख़िर उसने कहा—"आप तो काश्मीर जाकर ख़ूब स्वस्थ हो गयीं।"

सुरजीत विषाद से हँसी—"ऐसे नासूर क्या आपने नहीं देखे जो बाहर से अच्छे दिखायी देते हैं, लेकिन अंदर की ओर बढ़ते चले जाते हैं?"

कुछ क्षण ईश्वर स्तब्ध बैठा रहा, फिर उसने सुरजीत के दादा की मृत्यु की बात चला दी।

एक घंटे बाद, जब वह लकीरें सी बनाता हुआ धीरे-धीरे सीढ़ियों से उतर रहा था तो मन ही मन कह रहा था—"ऐसे नासूर भी तो होते हैं जो अंदर बाहर दोनों ओर बढ़ते हैं। सुरजीत शायद उनको नहीं जानती।"

आ लड़ाई आ, मेरे आँगन में से जा !

गाड़ी जब लाहौर से चली तो जल्दी में सवार हुए एक हृष्ट-पुष्ट सिख मुसाफ़िर ने यह देखकर सुख की साँस ली कि ऊपर एक बर्थ पर काफ़ी जगह ख़ाली है। कमीज़ की बाहें चढ़ा, बिस्तर उठा, उसने उधर फेंका और शेष सामान इधर-उधर जमाकर वह बिस्तर खोलने ही लगा था कि उसके मन में आशंका पैदा हुई—कहीं यह डिब्बा कट न जाता हो, नहीं मेल में इतनी जगह कैसे ख़ाली हो सकती है ? — और बिस्तर खोलना छोड़, उसने निचली सीट पर बिस्तर बिछाये, आराम से लेटे दूसरे मुसाफ़िर से पूछा—

"क्यों जी यह डिब्बा भटिंडा कट जाता है या सीधे दिल्ली तक जाता है ?"

"जी भटिंडा कट जाता है।" दूसरे ने जो रंग-रूप में मच्छी-हट्टा, लाहौर का कोई कसरती लाला दिखायी देता था, लेटे-लेटे उत्तर दिया।

सामने की बर्थ पर लाहौर ही के एक मुसलमान युवक का बिस्तर

बिछा था, पर वह अभी लेटा न था और आराम से बैठा सिगरेट पी रहा था। कश खींच कर बोला :

"नहीं जी ये ग़लत कहते हैं, डिब्बा सीधा दिल्ली तक जाता है !"

लाला को जैसे बिजली का तार छू गया। उचक कर उठा और बोला, "दिल्ली क्या कलकत्ता जाता है ? आपको कुछ मालूम भी है। महीना भी नहीं हुआ मैं स्वयं गया था और यह डिब्बा भटिंडा कट गया था।"

"महीना" युवक व्यंग्य से हँसा, "मैं हफ़्ता पहले की बात करता हूँ। दिल्ली तक सोता गया था।"

"सोते गये थे !" लाला ने एक 'उँह' करते हुए व्यंग्य से सिर को झटका दिया, "क्यों एक भले आदमी को परेशान करते हो ?" और फिर जैसे दूसरे यात्रियों को सुनाते हुए व्यंग्य से बोला :

"फ़ीरोजपुर से कभी आगे बढ़े नहीं और ख़बर दिल्ली की देते हैं।"

युवक का ख़ून खौल उठा। सिगरेट खिड़की से फेंकते हुए बोला, "वाह रे रोज़ कलकत्ता जाने वाले ? शक्ल से तो घसियारा दिखाई देता है।"

लाला झुँझला कर उठा, "क्या कहा, घसियारा तेरा बाप होगा।"

युवक ने उत्तर में घूँसा फेंका।

कुछ क्षण हवा में गालियों और मुक्कों का आधिपत्य रहा। लाला यद्यपि नित्य महावीर व्यायाम-शाला में कसरत करने वाला था, किन्तु युवक का सा साहस उसमें न था, इसलिए वह कुछ ज़्यादा पिट रहा था। तभी जब युवक के एक घूँसे से वह डिब्बे की दीवार से जा लगा तो उसने वहीं पास पड़ी किसी मुसाफ़िर की सुराही उठाकर युवक के

सिर पर दे मारी। सिर फट गया। ख़ून बहने लगा। किसी ने पुलिस को रिपोर्ट दे दी। फ़ीरोज़पुर पहुँचते ही थानेदार गाड़ी में आ धमके और उन्होंने दोनों को वहीं उतरने का आदेश दिया।

पुलिस की शक्ल देखते ही लाला का जोश कुछ ठंडा हो गया। लोगों ने भी समझाया कि आप लोग पहले ही कम परेशान नहीं हुए। अब आपका प्रोग्राम अलग ख़राब होगा, झूठा सच्चा कोई भी सिद्ध हो ख़्वार दोनों होंगे। घायल युवक मात्र सैर को जा रहा था। उसे कोई जल्दी न थी। वह उतरने को तैयार था, पर लाला के काम का हर्ज होता था। ग़लती भी उसी की थी। उसी ने ताना दिया था और उसी ने सुराही मारी थी। उसने युवक से क्षमा माँगी। सिर आगे किया कि यदि सुराही उसके सिर पर मार कर ही उसे संतोष होता हो तो उसकी अपनी सुराही उसके सिर पर मार कर संतोष कर ले। युवक का ग़ुस्सा दूर हो गया। उसने कपड़े बदले। लाला ने अपनी धोती फाड़ कर उसके पट्टी बाँधी। पुलिस चली गयी। गाड़ी भी चल पड़ी।

"क्यों साहब यह डिब्बा भटिंडा कट जायगा या सीधा दिल्ली तक जायगा ?"

फ़िरोज़पुर से चलती गाड़ी में बिस्तर फेंककर ख़ासी अफ़रातफ़री में एक व्यक्ति सवार हुआ। सूरत शक्ल से वह यू० पी० का कोई सुसंस्कृत मुसलमान लगता था। जब उसकी साँस दुरुस्त हुई तो दाढ़ी पर हाथ फेरते हुए उसने सिख मुसाफ़िर से यह प्रश्न किया, जो बिस्तर खोलना भूल कर यह कौतुक देखने लगा था।

पुनः बिस्तर खोलने का प्रयास करते हुए सिख मुसाफ़िर ने क़द्रे

हँस कर लाला की ओर संकेत किया, जो पिट-पिटा कर फिर लेट गया था और बोला, "मुझे खुद मालूम नहीं, इनसे पूछिए।"

लाला पहले ही जला बैठा था। साँप की तरह फुंकारा, "क्यों अब तेरा सिर फोड़वाने का इरादा है।"

बिस्तर बिछाना छोड़कर सिख ने कहा, "क्या मुझे भी नामर्द समझ लिया है जो सिर फोड़वाकर लेट जाऊँगा। उठा कर गाड़ी के बाहर न फेंक दूँगा सिर फोड़ने वाले को।"

"नामर्द!" युवक सिर के घाव की परवाह न करके उठा और "ज़रा आ तो देखूँ तेरी मरदुमी" कहता हुआ सिख की ओर लपका।

अबके तीनों उलझ गये। हवा में फिर गालियाँ, घूँसे और थप्पड़ तैरने लगे।

डिब्बा भटिंडा नहीं कटा, किन्तु वे तीनों पंजाबी कट गये। लाला और युवक अस्पताल पहुँचे और सिख मुसाफ़िर हवालात। गाड़ी चली तो ऊपर की बर्थ पर बिस्तर बिछाये वह यू० पी० का मुसलमान बड़े आराम से सो रहा था और उसके हल्के ख़र्राटों की आवाज़ डिब्बे की नीरवता में एक मधुर सा शोर पैदा कर रही थी!

ज्ञानी

मेरे पड़ोसी सरदार करतार सिंह ज्ञानी पुरुष थे। पढ़े हुए तो वे जैसा कि पंजाबी भाषा की कहावत है, 'मात्र दहलीज़ ही तक' थे। अर्थात् शिक्षा के विशाल भवन की चौखट के अन्दर जाना भी उन्हें नसीब न हुआ था, पर जैसा कि वे सदा आप ही कहा करते थे, उनकी अन्तर की आँखें खुली थीं और 'पढ़े' हुए होने की अपेक्षा वे 'गुढ़े' हुए अधिक थे।

कोई बड़ी ज़मीन जायदाद उनके पास न थी। एक हल की छोटी सी खेती थी, पर वे संतुष्ट थे। उनके अपने कथानानुसार ज्ञान की दौलत से 'वाहे गुरु'* ने उन्हें मालामाल कर रखा था। "धन-दौलत तो माया है—बनेरे का काग!" वे कहते, "आज हमारी मुँडेर पर कल दूसरे की, सच्ची दौलत तो सत् नाम की है। जिसके पास वह दौलत है, उसे किसी और धन-सम्पत्ति की आवश्यकता है न आकांक्षा!"

*वाहे गुरु = भगवान

गाँव में मेरी कपड़े की छोटी सी दुकान थी। कारबार में थोड़े बहुत लाभ की आशा न हो तो कारबार ही क्या? और ज्ञानी जी इस थोड़े से लाभ को 'लूट' का नाम देते थे। फिर मैं उधार भी कम देता था—और उन्हें शिकायत थी कि मैं माया-मोह में फँसा हुआ हूँ, दिन रात धन कमाने की चिंता मुझे सताती है।

मुझे प्रायः उपदेश भी दिया करते, कहा करते कि तुम लखपति भी क्यों न हो जाओ। यदि सत् नाम की दौलत तुम्हारे पास न हुई तो कंगाल के कंगाल ही रहोगे। "तुम चाहते हो कि सबकी दौलत तुम्हारी तिजौरी में आ रहे लाला," वे मुझसे कहते, "परन्तु जिसके पास सत् नाम का धन है, वह चाहता है कि अपनी उस संपत्ति को सब में बाँटे!"

तभी पंजाब की बाँट के फलस्वरूप साम्प्रदायिक दंगे की प्रतिक्षण फैलती हुई आग हमारे गाँव तक आ पहुँची। पश्चिमीय पंजाब में निरीह सिख स्त्रियों, बच्चों और बूढ़ों पर तोड़े जाने वाले अत्याचारों की खबरों ने इस आग पर तेल का काम किया और एक सुबह गाँव के सिख लाठियों, कुल्हाड़ों, गंडासों और छुवियों से लैस होकर मुसलमानों पर पिल पड़े और फिर उस हत्याकांड और लूट-मार की पुनरावृत्ति हमारे गाँव में भी हुई, जिसकी खबरें दूसेर गाँवों से आती थीं।

लूट-मार मची हुई थी और मुसलमानों के टोले की ओर से जो जिसके हाथ आता था, लूटे लिये आ रहा था। पुरुष तो पुरुष, स्त्रियाँ भी इस शुभ काम में पीछे न थीं। मैं अपने घर की छत पर बैठा ज्ञानी जी की बातों पर विचार कर रहा था—'जब सब को एक दिन मरना है, जब धन दौलत चलती फिरती छाया है, जब मनुष्य सब कुछ यहीं छोड़कर खाली हाथ यहाँ से जायगा, तो यह लूटमार, क़त्ल, ग़ारतगरी क्यों? जब लोग दूसरों को मारते हैं तो अपनी मौत क्यों भूल जाते हैं?

जब वे दूसरों का धन लूटते हैं तो क्यों भूल जाते हैं कि यह सब यहीं रह जायगा।' ये सब ज्ञानी जी के शब्द थे। इस हत्याकांड मे पहले उनकी सचाई मुझ पर यों प्रकट न हुई थी।

जब गाँव में प्रतिहिंसा से पागल हिन्दू-सिक्खों की मारधाड़ और निर्दोष मुसलमान स्त्री-बच्चों की चीख़ पुकार मची हुई थी, ज्ञानी जी का एक-एक शब्द मेरे कानों में गूँज रहा था।

तभी मैंने देखा ज्ञानी जी भी कंधे पर एक हल रखे और हाथ में नूरदीन की दोधार गाय की रस्सी थामे चले आ रहे हैं। दोनों के पीछे निरीह बछड़ा इस सारे हत्याकाड से अनभिज्ञ, कुदक्कड़े मारता चला आ रहा था।

नूरदीन की गाय गांव भर में प्रसिद्ध थी। दूध सी श्वेत, पाँच सवा पाँच फुट ऊँची, भरी-पूरी और जवान! दूर ही से मैंने पहचान लिया। जब सरदार जी समीप आये तो मैं न रह सका। छत पर ही से मैंने पूछा, "ज्ञानी जी आप भी?"

दार्शनिकों के से अंदाज़ में ज्ञानी जी ने कहा, "अजी लाला, हम न लाते तो कोई और ले जाता। यहाँ हमारा क्या है, सब 'वाहे गुरु' का है। इसका दूध भक्तों के काम आयेगा।"

यह कह कर वे घर के अंदर चले गये और फिर जब बाहर निकले तो उनके हाथ में मोटा ताला था, जो वर्षों बेकार पड़े-पड़े ज़ंगा गया था। तेल उसमें डालकर बड़ी कठिनाई से उन्होंने फिर उसे चलता किया और उसे दरवाज़े पर लगा वे चले गये। सारा दिन वे 'वाहे-गुरु' का भंडार भरते रहे।

इसके बाद उन्होंने कभी मुझे उपदेश नहीं दिया, बल्कि मुझे भी 'वाहे गुरु' के भक्तों में शामिल कर लिया, क्योंकि दूसरे ही दिन वे छाछ का लोटा और दही का छन्ना* भर कर मेरे घर दे गये।

---

*कटोरा

चारा काटने की मशीन

रेल की लाइनों के पार, इस्लामाबाद की नयी आबादी के मुसलमान जब सामान का मोह छोड़, जान का मोह लेकर भागने लगे तो हमारे पड़ोसी लहनासिंह की पत्नी चेतीं।

"तुम हाथ पर हाथ धरे नामर्दों की तरह बैठे रहोगे," सरदारनी ने कहा "और लोग एक से एक बढ़िया घर पर कब्ज़ा कर लेंगे।"

सरदार लहनासिंह और चाहे जो सुन लें, परंतु औरत-ज़ात के मुँह से 'नामर्द' सुनना उन्हें कभी गवारा न था। इसलिए उन्होंने अपनी ढीली पगड़ी को उतार कर फिर से जूड़े पर लपेटा; धरती पर लटकती हुई तहमद का किनारा कमर में खोंसा; कृपाण को म्यान से निकाल कर उसकी धार का निरीक्षण करके उसे फिर म्यान में रखा और फिर इस्लामाबाद के किसी बढ़िया 'नये' मकान पर अधिकार जमाने के विचार से चल पड़े।

चारा काटने की मशीन

वे अहाते ही में थे कि सरदारनी ने दौड़कर एक बड़ा सा ताला उनके हाथ में दे दिया। "मकान मिल गया तो उस पर अपना कब्ज़ा कैसे जमाओगे ?" उसने कहा, "अपना ताला तो लेते जाओ।"

सरदार लहनासिंह ने एक हाथ में ताला लिया दूसरा कृपाण पर रखा और लाइनें पार कर इस्लामाबाद की ओर बढ़े।

ख़ालसा कालिज रोड अमृतसर पर पुतली घर के समीप हमारी कोठी थी। इसके बराबर एक खुला अहाता था। वहीं सरदार लहनासिंह चारा काटने की मशीनें बेचते थे। अहाते के कोने में दो-तीन अँधेरी, सीली कोठरियाँ थीं।

मकान की क़िल्लत के कारण सरदार साहब वहीं रहते थे। यद्यपि काम उन्होंने डेढ़-दो हज़ार रुपये से आरंभ किया था, पर लड़ाई के दिनों में (किसानों के पास रुपये का बाहुल्य होने से) उनका काम खूब चमका। रुपया आया तो सामान भी आया और सुख-सुविधा की आकाँक्षा भी जगी। यद्यपि प्रारम्भ में उस अहाते और उन कोठरियों को पाकर पति-पत्नि बड़े प्रसन्न हुए थे, परन्तु अब उनकी पत्नी जो 'सरदारनी' कहलाने लगी थी, उन कोठरियों तथा उनकी सील और अँधेरे को अतीव उपेक्षा से देखने लगी थी। ग्राहकों को मशीनों की फुर्ती दिखाने के लिए दिन भर उनमें चारा कटता रहता था। अहाते भर में मशीनों की कतारें लगी थीं जो भावना रहित हो, अपने तीखे छुरों से चारे के पूले काटती रहती थीं। सरदारनी के कानों में उनकी कर्कश ध्वनि हथौड़ों की अनवरत चोटों सी लगने लगी। जहाँ तहाँ पड़े हुए चरी के पूले और चारे के ढेर अब उसकी आँखों को अखरने लगे। सरदार लहनासिंह तो— यद्यपि उनकी पगड़ी और तहमद रेशमी हो गयी थी और उनके गले में लकीरदार गबरून की कमीज़ का स्थान घुटनों तक लंबी बोस्की की

कमीज़ ने ले लिया था—वही पुराने लहनासिंह थे। उन्हें न कोठरियों की तंगी अखरती थी न तारीकी, न मशीनों की कर्कशता, न चारे के ढेरों की निरीहता, बल्कि वे तो इस सारे वातावरण में बड़े मस्त रहते थे।

वे कुछ पतले दुबले हो, यह बात नहीं। अच्छे ख़ासे हृष्ट-पुष्ट आदमी थे और उनकी मर्दुमो के परिणाम-स्वरूप पाँच बच्चे जोंको की तरह सरदारनी से चिमटे रहते थे। परन्तु यह सरदारनी का ढंग था। उसे यदि सरदार लहनासिंह से कोई ऐसा काम कराना होता, जिसमें कुछ बुद्धि की आवश्यकता हो तो वह उन्हें 'बुद्धू' कह कर उकसाती और यदि ऐसा काम करना होता, जिसमें कुछ बहादुरी की ज़रूरत हो तो उन्हें 'नामर्द' का ताना देती। उसका ढंग था तो ख़ासा अशिष्ट, पर रुपया आने और अच्छे कपड़े पहनने ही से तो अशिष्ट आदमी शिष्ट नहीं हो जाता। फिर सरदारनी को नये धन का मान चाहे हो, शिष्टता का मान कभी न था।

सरदार लहनासिंह इस्लामबाद पहुँचे तो वहाँ मार-धाड़ मची हुई थी। उनकी चारा काटने की मशीनें जिस प्रकार भावना-रहित होकर चरी के निरीह पूले काटती थीं, कुछ उसी प्रकार उन दिनों एक धर्म के अनुयायी दूसरे धर्म के अनुयाइयों को काट रहे थे। सरदार लहना-सिंह ने अपनी चमचमाती हुई कृपाण निकाली कि यदि किसी मुसलमान से मुठभेड़ हो जाय तो तत्काल उसे अपनी मर्दुमी का प्रमाण दे दें। परन्तु इस ओर जीवित मुसलमान का निशान तक न था। हाँ गलियों में रक्तपात के चिन्ह अवश्य थे। और दूर लूट-मार की आवाज़ें भी आ रही थीं।

तभी, जब वे सतर्कता से बढ़े जा रहे थे, उनको अपने मित्र गुर-दयालसिंह एक मकान का ताला तोड़ते दिखायी दिये।

सरदार लहनासिंह ने रुककर प्रश्न-सूचक दृष्टि से उनकी ओर देखा।

"मैं तो इस मकान पर क़ब्ज़ा कर रहा हूँ।" सरदार गुरदयालसिंह ने एक उचटती हुई दृष्टि अपने मित्र पर डाली और निरंतर अपने काम में लगे रहे।

तब सरदार लहनासिंह ने ढीली होती हुई पगड़ी का सिरा निकाल कर पेच कसा और अपने मित्र के नये मकान की ओर देखा। उसे देखकर उन्हें अपने लिए मकान देखने की याद आयी और वे तत्काल बढ़े। दो एक मकान छोड़कर उन्हें सरदार गुरदयालसिंह की अपेक्षा बड़ा और सुन्दर मकान दिखायी दिया, जिस पर ताला लगा था। आव देखा न ताव, उन्होंने गली से एक बड़ी-सी ईंट उठायी और दो चार चोटों ही में ताला तोड़ डाला।

वह मकान यद्यपि बहुत बड़ा न था, परन्तु उनकी उन कोठरियों की तुलना में तो स्वर्ग से कम न था, कदाचित् किसी शौक़ीन क्लर्क का मकान था, क्योंकि एक छोटा सा रेडियो भी वहाँ था और ग्रामोफ़ोन भी। गहने-कपड़े न थे और ट्रंक खुले पड़े थे। मकान वाला शायद मार-धाड़ से पहले शरणार्थी कैम्प या पाकिस्तान भाग गया था। जो सामान वह आसानी से साथ ले जा सका था, ले गया था। फिर भी ज़रूरत का काफ़ी सामान घर में पड़ा था। यह सब देखकर सरदार लहनासिंह ने उलटी कलाई मुंह पर रखी और ज़ोर से बकरा बुलाया*। फिर तहमद की कोर को दोनों ओर से कमर में खोंसा और सामान का निरीक्षण करने लगे।

जितनी काम की चीज़ें थीं, वे सब चुनकर उन्होंने एक ओर रखीं, अनावश्यक उठाकर बाहर फेंकीं, वहीं बड़ा ताला, जो वे घर से लाये

---

*पंजाबी जाट जब बहुत प्रसन्न होते हैं तो उलटी कलाई मुंह पर रखकर बकरे की सी आवाज़ निकालते हैं।

थे, मकान में लगाया, गुरदयालसिंह को बुलाकर समझाया कि उनके मकान का ख़याल रखें और स्वयं अपना सामान लाने चले कि मकान पूर्ण रूप से उनका हो जाय।

जब वे अपने घर पहुँचे तो उन्हें ख़याल आया कि सामान ले जायँगे कैसे ? इस भगदड़ में ताँगा-इक्का कहाँ ? तब अहाते से साइकिल लेकर वे अपने पुराने मित्र रामधन ग्वाले के यहाँ पहुँचे, जिसकी बैलगाड़ी पर (ट्रकों पर लाने ले जाने से पहले) वे अपनी चारा काटने की मशीनें लादा करते थे। मिन्नत-समाजत कर, दोहरी मज़दूरी का लालच देने के बाद वे उसे ले आये।

जब सारा सामान गाड़ी में लद गया और वे चलने को तैयार हुए तो सरदारनी ने साथ चलने का अनुरोध किया। तब उन्होंने उस नेक-बख्त को समझाया कि वहाँ के दूसरे सरदार अपनी सिंहनियों को बुला लेंगे तो वे भी ले जायँगे। वे लाख सिंहनियाँ सही—सरदार लहनासिंह ने अपनी पत्नी को समझाया—पर हैं तो औरतें ही और दंगे-फ़िसाद में औरतों ही को अधिक सहना पड़ा है। फिर उन्होंने समझाया कि अहाते का भी तो ख़याल रखना चाहिए। शरणार्थी धड़ाधड़ आ रहे हैं, कौन जाने यहाँ घर खुला देखकर जम जायें।

सरदारनी मान गयी, परन्तु जब सरदार लहनासिंह चलने लगे, तो उसने सुझाया कि वे सामान के साथ चारा काटने की एक मशीन ले जाकर अवश्य अपने नये घर में स्थापित कर दें, ताकि उनकी मलकियत में किसी प्रकार का संदेह न रहे और सभी को पता चल जाय कि यह मकान चारा काटने की मशीनों वाले सरदार लहनासिंह का है।

सरदारनी का यह प्रस्ताव सरदार जी को बहुत अच्छा लगा।

यद्यपि बैलगाड़ी में और स्थान न था, परन्तु सामान पर सबसे ऊपर

चारा काटने की मशीन

चारा काटने की एक मशीन किसी न किसी प्रकार रखी गयी, गिर न जाय, इसलिए उसे रस्सों से कस कर बाँधा गया और सरदार लहनासिंह अपने नये घर पहुँचे। गली ही में उन्होंने देखा कि सरदार गुरदयालसिंह की सिंहनी और बच्चे तो नये मकान में पहुँच भी गये हैं। तब उन्हें लगा कि उनसे भारी ग़लती हो गयी है। उन्हें भी अपनी सिंहनी को तत्काल ले आना चाहिए। यदि पतला-दुबला गुरदयाल अपनी सिंहनी को ला सकता है तो वे क्यों नहीं ला सकते।

यह सोचना था कि सारे सामान को उसी प्रकार ड्योढ़ी में रख, वही बड़ा सा ताला लगा, उन्होंने गुरुदयालसिंह से कहा कि भाई ज़रा ख़याल रखना, मैं भी अपनी सिंहनी को ले आऊँ, संगत हो जायगी।

और उसी बैलगाड़ी पर सरदार लहनासिंह उलटे पाँव लौटे। घर पहुँचकर उन्होंने अपनी सरदारनी को बच्चों के साथ तत्काल तैयार होने के लिए कहा।

परन्तु एक-डेढ़ घंटे के बाद जब अपने बीवी-बच्चों सहित सरदार लहनासिंह इस्लामाबाद पहुँचे, तो उनके नये मकान का ताला टूटा पड़ा था। ड्योढ़ी से उनका सारा सामान ग़ायब था। केवल चारा काटने की मशीन अपने पहरे पर मुस्तैदी से जमी हुई थी। घबरा कर उन्होंने गुरदयालसिंह को आवाज़ दी, परन्तु उनके मकान में कोई और सरदार विराजमान थे। उनसे पता चला कि गुरदयालसिंह दूसरी गली के एक और अच्छे मकान में चले गये हैं। तब सरदार लहनासिंह कृपाण निकालकर अपने मकान की ओर बढ़े कि देखें चोर और क्या-क्या ले गये हैं।

ड्योढ़ी में उनके प्रवेश करते ही दो लम्बे-तड़ंगे सिखों ने उनका रास्ता रोक लिया, बैलगाड़ी पर सवार उनके बीवी-बच्चों की ओर संकेत करते

हुए उन्होंने कहा कि यह मकान शरणार्थियों के लिए नहीं। इसमें थानेदार बलवंतसिंह रहते हैं।

थानेदार का नाम सुनकर सरदार लहनासिंह की कृपाण म्यान में चली गयी और पगड़ी कुछ और ढीली हो गयी।

"हुज़ूर इस मकान पर तो मेरा ताला पड़ा था। मेरा सारा सामान..."

"चलो-चलो बाहर निकलो! अदालत में जाकर दावा करो। दूसरे के सामान को अपना बताते हो!"

और उन्होंने सरदार लहनासिंह को ड्योढ़ी से ढकेल दिया। तभी लहनासिंह की दृष्टि चारा काटने की मशीन पर गयी और उन्होंने कहा—

"देखिए, यह मेरी चारा काटने की मशीन है, किसी से पूछ लीजिए, मुझे यहाँ सभी जानते हैं।"

परन्तु शोर सुन कर अपने 'नये' मकानों से जो सरदार या लाला बाहर निकले उनमें एक भी परिचित आकृति लहनासिंह को न दिखायी दी।

"यों क्यों नहीं कहते कि चारा काटने की मशीन चाहिए!" उनको धकेलने वाले एक सिख ने कहा और वह अपने साथी से बोला, "सुट्ट ओ करतारसिंहा मशीन नूं बाहर! गरीब शरणार्थी हण। असां इह मशीन साली की करनी ऐं।"*

और दोनों ने मशीन बाहर फेंक दी।

दो-ढाई घंटे के असफल वावेले के बाद जब सरदार लहनासिंह, रात आ गयी जानकर वापस अपने अहाते को चले, तो उनके बीवी-बच्चे पैदल जा रहे थे और बैलगाड़ी पर केवल चारा काटने की मशीन लदी हुई थी।

---

*करतार सिंह मशीन को बाहर फेंक! यह साली मशीन हमारे किस काम की?

कालू

कालू का रंग, शायद कहने की आवश्यकता नहीं, काला था। काला—जिसके साथ स्याह का विशेषण भी जोड़ देते हैं। हाँ उसकी आँखों के डेलों का रंग शर्बती था और गहरी भूरी पुतलियों के स्थान पर दो हल्के मटियाले-नीले रंग की पुतलियाँ टिमटिमाया करती थीं। टिमटिमाती ही थीं, दमकती न थीं, जैसे दूसरी स्वस्थ आँखों में दमका करती हैं, क्योंकि जन्म ही से वह अंधा था।

वह अंधा था, किन्तु अंधों का-सा हीन-भाव उसमें न था। ऊँचा लम्बा क़द, खुले अंग, सुगठित देह और हिंस्र ख़ूँखार आकृति। जब वह लेटा होता तो किसी शत्रु की क्या मजाल है कि उसके पास से बिना गुर्राहट सुने गुज़र जाय। मुझे बहुत देर तक इस बात का भी पता नहीं लगा कि वह अंधा है—जन्म-जात अंधा।

•

आज यद्यपि मैं ३० वर्ष का होने आया हूँ और भारत में जहाँ

औसत व्यक्ति की आयु सिर्फ़ तेइस वर्ष की है, तीस वर्ष का होना प्रौढ़ हो जाने के बराबर है, किन्तु इस पर भी मुझमें बचपन की कुछ आदतें अभी तक शेष हैं—इसी आदत को ले लीजिए—खाना खाने के बाद, जहाँ दूसरे लोग प्लेटों को, धोये जाने के लिए, यथास्थान रखकर जल्दी-जल्दी हाथ धोकर फ़ारिग़ होने को व्यग्र हो जाते हैं, मैं अपनी प्लेट से बची हुई रोटी उठा कर कौओं और कुत्तों को इकट्ठा कर लेता हूँ।

और फिर वह एक-डेढ़ रोटी एकदम कौओं-कुत्तों को डालकर मैं अपने काम में व्यस्त नहीं हो जाता। यह सब मैं पुण्य अथवा धर्म का काम समझ कर नहीं करता। मुझे इसमें रस मिलता है। रोटी के छोटे-छोटे टुकड़े करके हवा में उछालता हूँ और यदि कोई चंचल काग हवा ही में उसे दबोच ले, या कोई चपल कुत्ता भूमि पर उसके गिरने से पहले ही उसे लोक ले तो मुझे अपार ख़ुशी होती है। किचन के बाहर, जब खाने के पश्चात्, पानी अथवा लस्सी का ठंडा गिलास पीने पर, शरीर में सर्दी की झुरझुरी उठती है तो मैं हाथ में वही एक-डेढ़ रोटी का टुकड़ा लेकर बाहर धूप में जा खड़ा होता हूँ और बचपने-की-सी इस आदत को पूरा करने के साथ-साथ स्निग्ध, गर्म धूप का आनन्द लेता हूँ।

सामने इलियर की बाड़ के परे पतझड़ के कारण सूखे अनार की डालियों पर सर्दी से बचने के लिए, पंख फुलाये सिकुड़ी-सी बैठी कोई बुलबुल अथवा गौरैया सदैव यह कौतुक देखा करती है। गेहूँ की छोटी सी पैली से परे चौड़े-चौड़े पत्तों को लिये हुए 'शटाला' और नन्हें पत्तों के साथ काली सेंजी धूप में खिल रही होती है। मेढ़ों पर लगे हुए सरसों के पीले तथा मोगरे के नीलाहट लिये हुए श्वेत फूल उचक-उचक कर ताका करते हैं और धूप इस डाइनिंगहाल को, इसके इर्द-गिर्द सब्ज़ी के खेतों को, उसके परे 'कराहे' से समतल होती हुई धरती

को और फिर ऊसर में खड़े एकाकी बबूल के पेड़ तथा दृष्टि की सीमा के पास आमों के घने बाग़ को अपने स्निग्ध आलिंगन में लिये होती है। रात का जमा हुआ कोहरा अज्ञात रूप से उड़ रहा होता है और मैं इस बिखरी, गर्म, स्निग्ध, स्नेहमयी धूप में रोटी के टुकड़े उछाला करता हूँ।

जिस प्रकार शव से गिद्धों का सम्बन्ध है, इसी प्रकार मनुष्य से कुत्तों का। किसी वीराने में, जहाँ दूर-दूर तक पेड़-पौधों का निशान न हो, कोई लोथ फेंक दीजिए, दूसरे दिन ही अपनी लम्बी गर्दनें आगे को बढ़ाये, चीख़ते, झपटते गिद्ध उसके इर्द-गिर्द इकट्ठे हो जायँगे। यही हाल कुत्तों का है। किसी ऊसर में एक कुटिया डालकर मनुष्य रसोई बनाना शुरू कर दे, कुछ दिनों में उसे अपने रसोई-घर के बाहर एक दूसरे को भूँकते, नोचते, गुर्राते कुत्तों की आवाज़ सुनायी देने लगेगी।

मैं ही जब प्रीत-नगर में आया, वहाँ एक भी कुत्ता न था, किन्तु अब मैं नित्य अपने इर्द गिर्द एक फ़ौज देखता हूँ।—वह वैरोके का शेर, जिसका रंग भूरा है; मात्र गर्दन पर सफ़ेदी है; जिसके भूरे मस्तक पर एक सफ़ेद-सा तिलक है; जिसके डेलों के इर्द-गिर्द हलका गुलाबी रंग है और यदि मैं विशेष प्रयास न करूँ तो कौवे तक को लुक़्मा नहीं उठाने देता—और वह चितकबरा डग*, जो शायद चक-मिश्री खाँ से आया था—जिसकी पिछली टाँगों पर दुम के नीचे लम्बे-लम्बे बाल घुटनों तक चले गये हैं और जो प्रायः इस वैरोके के शेर से लोहा ले लेता है और वह सफ़ेद शरीर, किन्तु भूरे दाग़ों, थोथनी पर स्याही और गहरी भूरी पुतलियोंवाला कुत्ता, जो हिंस्रता में उससे किसी क़दर भी कम नहीं और वह छोटा-सा बिल्लू, जिसे सरदार बख़्शीश-सिंह के प्यार ने यह नाम दे दिया है—फुर्तीला, छोटे खड़े पान से

*डग = देशी कुत्ते को पंजाबी में डग कहते है।

कानों और लम्बी, पतली थोथनीवाला, जिसके पूर्वज अवश्य ही लूमड़ी की किसी श्रेणी से सम्बंधित होंगे और वह अँग्रेज़ी-नज़ाद मिक्की जिसे एक मास्टर साहब बाहर से लाये थे और जो इन देशी कुत्तों के साथ मिलकर उन्हीं-का-सा आवारा हो गया है और वह दुम पेट के साथ लगाये सिकुड़कर, महराब-सा बना परे-परे ही रहनेवाला कुत्ता, जिसकी भूख, मालूम होता है, सुगंधि से ही मिट जाती है और वह कुतिया जो पेट में सात-आठ बच्चों का भार लिये फिरती है और जिसकी भूख दिन-प्रतिदिन बढ़ती जाती है—ये सब और दूसरे दसियों कुत्ते मेरे इर्द-गिर्द आ इकट्ठे होते हैं।

इन्हीं में कालू भी था। काला-स्याह, जैसा कि मैंने कहा। सिर्फ उसके पंजे टख़नों तक चितकबरे थे अथवा घुटनों पर हल्की-सी सफ़ेदी थी। शक्ति में वह इस वैरोंके के भेड़िये से कम न था और इन सब कुत्तों में, शीघ्र ही मुझे उससे दिलचस्पी हो गयी थी। मैंने देखा कि वह रोटी को ऊपर ही से न झपट सकता था, यदि मैं रोटी को धरती पर फेंक दूँ तो उसकी आवाज़ पर लपकता था और फिर किसी को साहस न होता था कि उसे ले जाये। किन्तु जब मैं इस तरह रोटी न फेंकता, बल्कि उन्हीं कुत्तों की ओर फेंकता, जो उन्हें उचककर झपट सकें तो वह चुप मेरे पास खड़ा दुम हिलाता और अपनी मटियाली-नीली पुतलियों को फिराता हुआ मेरी ओर ऐसी आँखों से देखता कि मेरे मन में कुछ दया सी पैदा हो जाती और मैं अपने कौतुक को छोड़कर सारी की सारी रोटी उसके आगे फेंक, पम्प पर हाथ धोने और कुल्ला करने चला जाता। सोचता कि आख़िर यह क्यों दूसरों की भाँति उचककर रोटी नहीं लेता। और एक दिन, जब वह धूप में बरामदे की दीवार के सहारे चारों टाँगें ऊपर करके लेटा हुआ था, मैंने यही बात क़िचन के हेड-रसोइए से पूछी।

'कौन यह सूरदास ?' किचन की खिड़की मे झाँककर मोहनसिह ने पूछा।

'सूरदास ?'

'हाँ जी, यह बिलकुल अंधा है।'

और यह कहता हुआ मोहनसिंह खिड़की के बाहर कूद आया।

उसकी आवाज़ को सुनकर अथवा रसोई की सुगन्धि में बसे हुए उसके कपड़ों की बू पाकर, कालू करवट के बल उछलकर उसके पास आ खड़ा हुआ और दुम हिलाने लगा और उसके डेलों की मटियाले रंग की हलकी-नीली पुतलियाँ टिमटिमाने लगीं।

तभी वह चक मिश्री खाँ का डग भी वहाँ आ पहुँचा। उसकी बू पाकर कालू गुर्राया।

मोहनसिंह ने उसकी पीठ को थपथपाकर कहा, 'बस बच्चा।'

और कालू लपका।

'पुच-पुच, बस बच्चा, बस।'

और कालू डग के सिर पर जा सवार हुआ।

'नर कुत्ता है बाबू जी!' मोहनसिंह ने अपनी खिचड़ी-सी डाढ़ी पर हाथ फेरते हुए कहा, 'अन्धा तो है, पर शह दो तो शेर से भिड़ जाय।'

किन्तु यह शेर से भिड़ जाने वाला निडर कालू अपने वक्ष में एक अत्यन्त भावुक दिल रखता है, इसका पता मुझे बाद में चला, जब पाँच-छः महीने बाद मैंने उसे पतीकी* के साथ-साथ अथवा उसके पीछे-पीछे घूमते देखा।

---

*पतीकी = पंजाब में नन्हीं सी चीज़ को पतीकी भी कहते है।

पतीकी एक छोटी-सी कुतिया थी। क़द की छोटी होने से बच्चों ने उसे यह नाम दे दिया था। पतली सी थोथनी, चुस्त खड़े कान, हल्का भूरा, सफ़ेदी-मायल रंग। कानों के पास बाल लम्बे और मुलायम थे। एक दिन सुबह-सुबह मुझे उसके पीछे शीत में नंगे पाँव कुहरे पर बड़ी दूर तक भागना पड़ा था। बात वास्तव में कुछ ऐसी न थी। मैं अकेला आदमी हूँ। कहने का मतलब यह कि मेरे पत्नी नहीं। कई वर्ष पहले उसका देहांत हो गया था और इस विधुर जीवन में कई कारणों से छोटी-छोटी चीज़ों का मूल्य अधिक बढ़ गया है। सुबह मैं व्यायाम कर चुकता हूँ तो मुझे तेज़ भूख लगती है। भूख शायद उपयुक्त शब्द नहीं—एक विचित्र प्रकार की चाह-सी मेरे अन्तर में जग उठती है—गर्म-गर्म दूध के लिए! प्रायः मैं हाथ में चीनी की पुड़िया, एक-दो डबल रोटी के सूखे रस या चलग़ोज़े लेकर किचन में चला जाता हूँ। रसोइए से डेढ़ पाव अथवा आध सेर गर्म-गर्म दूध ले लेता हूँ और फिर उस विशाल डाइनिंग-हाल के पिछली ओर, बरामदे में खिली हुई धूप में बैठकर रस भिगो-भिगो कर खाता हूँ। अथवा चलग़ोज़े चटख़ता और अत्यधिक गर्म होने के कारण, चम्मच में दूध भर कर, फूँक मार-मार पीता हूँ, अथवा सामने गोभी, शलजम और गाजरों की क्यारियों में सर्दी की ओर से बेपरवाह, माही राम को निरन्तर काम करते देखता हूँ और साथ-साथ दूध पीता रहता हूँ।

लेकिन गत वर्ष सर्दी कुछ अधिक पड़ी थी। पक्की दीवारों को पार करके शीत अंदर धँसा आता था। लिहाफ़, जो अन्दर से शरीर की उष्णता के कारण गर्म होता, ऊपर से हिम ऐसा ठंडा होता। मैं उन दिनों सुबह दूध पीने किचन में न जाता। धूप ही न निकलती थी, बारह-बारह बजे तक धुँधयाली छायी रहती थी। शिंगारासिंह जब गर्म दूध की बाल्टी लेकर कोठी-कोठी देता हुआ आता तो मैं उसी से ले लेता।

चूँकि सर्दी अधिक पड़ने लगी थी, इसलिए मैंने अपने व्यायाम की मात्रा भी अधिक कर दी थी और गर्म-गर्म दूध के लिए वह आकांक्षा सी भी मेरे मन में प्रबलतर हो गयी थी और चलग़ोज़े तथा रस मुझे किसी विभूति से कम न दिखायी देते थे।

इन चार-छै आने पाऊंड वाले रसों को मैंने पहले कभी देखना भी पसंद न किया था और चलग़ोज़ों से भी मुझे सदैव नफ़रत सी रही है। हज़म नहीं होते—मैं ऐसा समझता आ रहा हूँ। लेकिन कभी स्वास्थ्य ऐसा भी होता है कि जठराग्नि पत्थर भी गला देती है। प्रीतनगर, लाहौर से ३० और अटारी की पक्की सड़क से १० मील दूर देहात में है। खाना तो खैर, जो खाना चाहें, कम्युनिटी किचन के डाइनिंग-हाल में खा सकते हैं, लेकिन और चीज़ें वहाँ स्टोर में मिलती हैं और कभी जब वे समाप्त हो जाती हैं तो प्रतीक्षा भी करनी पड़ती है। बीवियों वाले तो गाजर का हलवा, दाल और लड्डू, बर्फ़ी, बेसन और दसियों चीज़ें बना छोड़ते हैं, किन्तु मैं तो विधुर ठहरा, इसलिए मेरे निकट रस ही बड़ी प्रिय तथा क़ीमती चीज़ बन गये थे। फिर एकाकी होने के कारण मैं अत्यधिक काम करता हूँ। दिनों, तिथियों अथवा समय आदि का मुझे ज्ञान नहीं रहता और जब कोई चीज़ ख़त्म हो जाती है तो उसे लाना मुझे उसी समय याद आता है, जब कि प्रायः स्टोर बन्द होता है और कई बार जब खुला होता है तो वहाँ जाने पर पता चलता है कि वह चीज़ तो बहुत पहले ख़त्म हो चुकी है। इसी लिए मैं अत्यधिक ज़रूरत की चीज़ें इकट्ठी ले रखता हूँ और इन अत्यधिक ज़रूरत की चीज़ों में रसों एवं चलग़ोज़ों का नम्बर सबसे पहले आता है।

उस दिन चलग़ोज़ें ख़त्म हो चुके थे और रस भी लगभग समाप्त थे और कदाचित् महीने के अन्तिम दिन होने के कारण स्टोर में भी

ख़त्म हो चुके थे, इसलिए मैं दो के स्थान पर एक ही रस पर संतोष किया करता था।

शिंगारासिंह दूध लेकर आ गया, लेकिन मैं अभी कठिनाई से व्यायाम कर पाया था। मैंने रसों का लिफ़ाफ़ा निकाला, लेकिन तभी मुझे ख़याल आया कि दातौन तो मैंने की नहीं। नहाये बिना मैं चाहे कोई चीज़ खा लूँ, लेकिन दातौन किये बिना कोई चीज़ खाना मेरे लिए दुष्कर हो जाता है। किन्तु दातौन लेने जाऊँगा तो दूध ठंडा हो जायगा और मेरे पास तो स्टोव भी नहीं—यह सोच मैंने निर्णय किया कि आज ब्रश ही किया जाय! इस ख़याल के आते ही मैं रसों का लिफ़ाफ़ा वहीं छोड़, दूध का गिलास हाथ में लिये हुए स्नानगृह में चला गया। गिलास खिड़की में रख, मैं ब्रश करने लगा। ब्रश करने के बाद मुझे पता लगा कि ज़बान साफ़ करने वाला (*Tongue scraper*) तो मैं आलमारी में ही छोड़ आया हूँ। और मैं कमरे की ओर बढ़ा। तभी कुछ गिरने की आवाज़ आयी। देखा तो वह पतीकी चिक उठाकर और दरवाज़ा खोलकर अंदर आ गयी थी और उसने खुली आलमारी से रसों का लिफ़ाफ़ा नीचे गिरा दिया था। कई रस टूट गये थे और फ़र्श रसों के चूरे के कारण गंदा हो गया था। टंग-स्क्रेपर को वहीं आलमारी के ख़ाने में रखकर मैंने रस उठाये और उन्हें लिफ़ाफ़े में डालकर अलमारी के सबसे ऊपर के ख़ाने में रखा, फिर चूरे को इकट्ठा करके बाहर फेंका और फ़र्श साफ़ करके, टंग-स्क्रेपर उठाकर और दरवाज़े की चिटख़नी लगाकर स्नानगृह की ओर बढ़ा। दरवाज़े में से ही मुझे लपर-लपर की आवाज़ सुनायी दी, देखता क्या हूँ कि वही कम्बख़्त पतीकी खिड़की में रखे हुए गिलास में लपर-लपर ज़बान चला रही है। निश्चय ही ग़ुसलख़ाने का बाहर का दरवाज़ा खुला होगा और वह उधर से आ गयी होगी।

क्रोध से मेरी आँखों से चिनगारियाँ निकलने लगीं। टंग-स्क्रेपर को वहीं फ़र्श पर फेंक; चप्पल मैंने उतारकर उसके मारी। उसके तो न लगी, अलबत्ता दूध का गिलास भर्र से फ़र्श पर आ रहा। क्रोध से अंधा होकर मैं पतीकी के पीछे बाहर को भागा। भागते-भागते दूसरी चप्पल मैंने उतार कर हाथ में ले ली और यह भूल गया कि बाहर कोहरा जमा हुआ है।

वास्तव में इस पतीकी से मुझे और भी शिकायत थी। कुछ दिनों से मेरे कमरे के पीछे उसने बच्चे दे रखे थे और पिल्लों की च्याऊँ-च्याऊँ के कारण मेरी थोड़ी सी नींद भी हराम हो जाती थी। फिर अत्यधिक शीत के कारण वह अपने पिल्लों को लिये हुए मेरे ही बरामदे में आ जाती थी। जिस दिन ग़लती से पायदान बाहर रह जाता, उस दिन वे सब पिल्ले उस पर आ सोते और कई बार उसे गंदा कर जाते।

दाँत पीसता हुआ, अंधाधुंध मैं उसके पीछे भाग रहा था। बच्चों के जन्म और अपनी बढ़ी हुई भूख को पूर्ण रूप से निवारण न कर सकने के कारण, वह कुछ कृश-काय हो गयी थी, किन्तु जान के खौफ़ से वह च्याऊँ-च्याऊँ करती हुई दुम को पेट से लगाये भागी जा रही थी। मेरे पाँव सन्न हो रहे थे। तीखी हवा से मेरी नाक की कोठी दर्द करने लगी थी और कानों की कोरों पर चींटियाँ-सी रेंग रही थीं। किन्तु मैं प्रतिशोध की अंधी भावना के अधीन भागा जा रहा था—कई खेत, ऊसर, लान, पार करके, चक्कर खाकर, थक हार कर वह वहीं मेरे मकान के पीछे अपने बच्चों के पास दीवार के साथ आकर दुबक गयी। हाथ में उठायी हुई चप्पल मैंने ज़ोर से उसके दे मारी।—एक 'च्याऊँ' करके उसने पेट दिखा दिया और चारों टाँगें ऊपर की ओर कर दीं।

मैंने दूसरी बार प्रहार करने के लिए चप्पल उठा ली थी, किन्तु उसकी दीनता को देखकर मैं उसे हाथ में ही लिये हुए मुड़ आया।

इसी पतीकी से उस अन्धे कालू को प्रेम हो गया ।

और कालू का प्रेम किसी युवा का बेपरवाह प्रेम न था, बल्कि उस प्रौढ़ का प्रेम था, जिसने अपनी इस प्रौढ़ता तक उसका स्वाद न चखा हो। ऐसी अवस्था के प्रेम में युवा-प्रेम सी बेपरवाही, हरजाईपन, अथवा बेवफ़ाई नहीं होती।

कालू अंधा था। किसी यौवनमाती का साहचर्य्य उसे आज तक प्राप्त न हुआ था। जब भी ऋतु बदलती और कोई सहचरी अपने साथियों से खेलने, उनके शरीरों को सूँघने लगती अथवा उनकी गर्दनों में अपने अगले पंजे डालकर खड़े होने में उसे आनन्द आने लगता, तो फिर पाँच-पाँच छै-छै दिनों तक चक मिश्री खाँ से लेकर वैरोके, लीपोके और भीलोवाल तक के कुत्ते उसके पीछे चलने लगते। जहाँ वह जाती, वहाँ वे जाते। उनके आगे-आगे सदैव वह वैरोके का शेर, था वह चक मिश्री खाँ का डग या फिर वह श्वेत रंग, पर खूँखार थोथनी-वाला कुत्ता होता और इनका काम अपने पीछे आनेवालों को आगे बढ़ने से, प्रेयसी के शरीर को छूने का प्रयास करने से रोकना होता।

कालू ने प्रायः इन मुहिमों पर जाना छोड़ दिया था। बहार पर आयी हुई सहचरियों की चाल में कुछ अजीब मस्ती और तेज़ी आ जाती थी। यह जानकर कि यह सब फौज उनके चाहनेवालों की है, वे मस्त, अल-बेली तीखी, चाल से चलतीं। अंधा कालू उनका साथ न दे पाता।

सूँघ-सूँघ कर उसे चलना होता! एक बार इसी तरह बू के सहारे शरीर की आवश्यकताओं से विवश होकर भागता हुआ वह एक गढ़े में जा गिरा था। सारा दिन पानी में खड़ा चीखता रहा था। रात के सन्नाटे में जब उसका करुण-क्रन्दन मोहनसिंह तक पहुँचा था तो उसने उसे निकाला था। पानी उतना गहरा न था, नहीं वह ख़त्म हो गया होता।

कालू

वह डाइनिंग हाल के पिछली ओर बरामदे में पड़ा धूप सेंकता, खाने के समय छीन-झपट कर पेट भर लेता। और यों भी किचन का हेड रसोइया उसे 'बेटा' कहकर पुकारता था और खाने की उसे चिन्ता न हो सकती थी। रात को तंदूर के नीचे गर्म राख में पड़ कर सो रहता। उसकी इस जगह को छीनने की हिम्मत अभी उसके दोस्तों में से किसी को न थी।

लेकिन पिछली बहार में जब ऋतु बदली और खेत सरसों के फूलों से पीले हो गये, गेहूँ की बालियाँ लग आयीं, आमों के बौर से वायु में सुगंधि भर गयी, वीराने में करीर की झाड़ियाँ लाल-लाल फूलों से भर गयीं और तनिक देर से फलनेवाली बेरियाँ आँखों की शक्ल के बड़े हरे-हरे बेरों के बोझ से धरती में जा लगीं तो पतीकी (जैसा कि देहाती भाषा में कहा जाता है) कत्त में आ गयी, मुश्क गयी।

वास्तव में पतीकी किसी की पाली हुई तो थी नहीं, और आवारा कुत्तों में मादा वर्ष में दो-दो तीन-तीन बार भी फल आती है। उसका शरीर भर गया था, बालों में चमक आ गयी थी, कानों की लवें अधिक कोमल लगने लगीं थीं और चक मिश्री खाँ, वैरोके तथा लोपोके के कुत्तों में जंग होने लगी थी।

तभी जब एक रात वह तंदूर के गढ़े में (जिसमें एक सूराख़ वास्तव में राख लेने के लिए बनाया गया था, किन्तु कालू के निरंतर घुसकर बैठने से खुला हो गया था) सूराख़ के पास अपने अगले पंजों पर थोथनी रखे ऊँघ रहा था (दिन को वह शायद ज़्यादा सोया था, या अभी रात अधिक नहीं गयी थी) कि उसकी नाक में कुछ ऐसी सुगंधि आयी कि उसके अंग तन गये। उसने हवा में फिर एक बार सूँघा और सनसनी-सी उसके शरीर में दौड़ गयी। वहाँ बैठे रहना उसके लिए कठिन हो गया। अपनी आँखों का अभाव और उस अभाव

के कारण गढ़े में गिर पड़ना उसे भूल गया। वह उठने को हुआ, लेकिन तभी उसे अपनी इस गुफ़ा के बाहर अपने संगियों की भौं-भौं और बख़-बख़ की आवाज़ सुनायी दी और वह मादक सुगंधि उसे और भी पास, और भी समीप आती प्रतीत हुई। दूसरे क्षण उसने गर्म-गर्म साँस अपनी नाक पर महसूस की। पतीकी बाहर की ठंड और अपने साथियों की ज़्यादतियों से तंग आकर उस सूराख़ में घुस आयी थी।

वैरोके के शेर ने उसके पीछे जाने का प्रयास किया, किन्तु एक तो जगह बिल्कुल न थी और दूसरे कालू की एक ही बख़ ने उसकी थोथनी का गोश्त नोच लिया।

उधर से हटकर उसने पतीकी के लिए कुछ जगह बना दी और स्वयं दहाने पर डटकर बैठ गया।

रात की कठिन सर्दी ने कुत्तों की गर्मी को ठंडा कर दिया और वे ऊँचे-ऊँचे चीख़ते पनाहगाहों में भाग गये और कालू पतीकी के साथ सटकर बैठ गया, हवा में बार-बार सूँघने लगा और प्रत्येक साँस से उसके शरीर में आनन्द की वह लहर दौड़ने लगी, जिससे वह अभी तक अनभिज्ञ था।

सुबह किचन के बाहर शिंगारासिंह तथा महंगासिंह से मोहनसिंह कह रहा था—

'अरे इसको बैठे-बिठाये कहाँ से मिल गयी वह?—दस बच्चे पैदा होंगे, बाल ब्रह्मचारी है यह कालू।'

और तीनों ठहाका मारकर हँसने लगे और वैरोके का शेर जो प्रातः ही आ गया था, वासना और ईर्ष्या की पीड़ा से ज़ोर-ज़ोर से चीख़ उठा।

लेकिन कालू में, उस दिन से मैंने एक नया परिवर्तन देखा। उसने अपनी पहली जगह छोड़ दी थी और पतीकी के साथ-साथ घूमने लगा था। मैं प्रायः उन्हें इकट्ठे देखता। पतीकी तनिक आगे होती और कालू तनिक पीछे—इस तरह कि जहाँ पतीकी के अगले पाँव होते, वहाँ उसकी थोथनी होती और यद्यपि वह माप-माप कर पग धरता हुआ प्रतीत होता था, किन्तु फिर भी उसकी चाल में कुछ बेपरवाही-सी आ गयी थी। गढ़े आदि का भी शायद उसे भय न रहा था। पतीकी के शरीर की सन्निकटता को महसूस करता हुआ, वह उसकी गंध के सहारे बेख़बर चला जाता।

रात को यद्यपि ठंड होती, लेकिन दिन को गर्मी अधिक पड़ने लगी थी। शून्य में लहरिये से बनने लगते थे। आँखें धूप में टिकती न थीं और मैंने घर में खाना मँगाना शुरू कर दिया था। मेरा लड़का भी मेरे पास आ गया था। छोटा भाई भी था। घर में ठंडे फ़र्श पर चटाई बिछाकर, किसी प्रकार के शिष्टाचार के बिना, हम खाना खाते। हमारे खाना खाने तक पतीकी और कालू किचन से नौकर के पीछे-पीछे आकर सामने बरामदे में बैठ जाते—पतीकी सदैव तनिक आगे बैठती और कालू सदैव तनिक पीछे।

खाना खाकर मैं रोटी फेंकता। पतीकी झपटती। उसकी भूख, मालूम होता है, फिर तेज़ हो रही थी। उसका हिस्सा उसे देकर मैं रोटी का टुकड़ा कालू की ओर फेंकता। वह सूँघता और पीछे हट जाता और पतीकी को खा लेने देता।

अपनी प्रेमिका के प्रति ऐसा प्यार मैंने इन आवारा देशी कुत्तों में पहली बार ही देखा। वह स्निग्ध, वफ़ादार, त्यागमय प्यार— वैरोके और चक मिश्री खाँ के उन गुण्डों को मैंने एक दिन में दो-दो सहचरियों के पीछे घूमते देखा था।

किन्तु इसके बाद घटनाएँ जिस तरह हुईं, उन्हें याद करके मैं कई बार सोचा करता हूँ कि कालू कुत्ता ही था अथवा किसी पिछले जन्म का अतृप्त प्रेमी।

संध्या को मेरी आदत है कि मैं सीधा स्नान-गृह जाता हूँ। मुँह-हाथ धोता हूँ और तब कोई काम करता हूँ। प्रीतनगर में स्नानगृहों और शौचालयों के दरवाज़े प्रायः खुले रहते हैं और मेरे तो प्रायः सब कमरों के दरवाज़े खुले रहते थे। उस दिन जाने क्या काम था कि मैं कपड़े बदलने के लिए कमरे में जाने की अपेक्षा बाहर ही से स्नानगृह की ओर गया। गुसलख़ाने के बाहर कालू बैठा था। लगभग उसे लाँघता हुआ मैं अंदर दाख़िल हुआ। देखा तो नाली के पास सीमेंट के खुरे पर पतीकी लेटी हुई है।

'हश्त-हश्त' मैंने उसे भगाना चाहा।

वह तड़पकर उठी। उठने की उसने बहुत कोशिश की, पर उठ न सकी, तब मैंने देखा कि उसकी टाँग पर एक बहुत बड़ा, लगभग आधी टाँग तक फैला हुआ घाव था और तभी मुझे याद आया कि कालू आज दोपहर रोटी लेने नहीं आया और स्नान-गृह के बाहर बैठा है।

आवारा कुत्तों में परस्पर युद्ध होते रहते हैं। शत्रुताएँ और ईर्ष्याएँ भी उनमें कम नहीं होतीं। शायद उस चक मिश्री खाँ के डग, अथवा उस वैरोके के गुण्डे ने पिछली असफलता का बदला लिया था। बिलकुल उसी तरह, जैसे उसके ही गाँव के दुल्ले ने ईर्ष्या वश हो अपनी प्रेयसी हसना की नाक और कान काट लिये थे।

इसके बाद मैंने पतीकी को दो-तीन दिन वहीं पड़े, तड़पते और दिन-प्रति-दिन क्षीण तथा कृश-काय होते तथा कालू को बाहर बैठे देखा और स्वयं अपने पड़ोसी के गुसलखाने में नहाता रहा।

फिर एक दिन, जब मैं दोपहर के समय खाना खाने के लिए घर

आ रहा था, मैंने पतीकी को बाहर लॉन में अत्यन्त तीक्ष्ण धूप में तड़प-तड़प कर जान तोड़ते देखा। शायद शैतान बच्चों ने उसे उस ठंडी जगह से बाहर निकाल दिया था।

वहीं से मैं वापस सरदार बख्शीशसिंह के पास गया और मैंने उनसे प्रार्थना की कि उस ग़रीब को इस असह्य पीड़ा से मुक्ति दिलायें। सरदार बख्शीशसिंह मेरे साथ आये। पतीकी का घाव बढ़ गया था और उसमें कीड़े पड़ गये थे—'यह नहीं बच सकती,' उन्होंने कहा और अपनी बन्दूक लाकर उन्होंने सदैव के लिए उसे उस कष्ट से मुक्त कर दिया।

लेकिन कालू मुझे उस दिन के बाद फिर नहीं दिखायी दिया। न जाने वह कहाँ चला गया— क्योंकि इर्द-गिर्द के मज़दूरों से मैं पूछता रहता हूँ कि उन्होंने कभी अपने गाँव में कालू को देखा है— कालू को जो कि काला था और जिसके डेलों में गहरी शर्बती पुतलियों के स्थान पर अंधी मिटियाली नीली पुतलियाँ टिमटिमाया करती थीं। किन्तु मुझे उत्तर सदैव 'नहीं' में मिलता है। और कभी जब डाइनिंग हाल के बाहर मैं रोटियाँ उछालता हूँ तो मेरी आँखें सदैव दो टिमटिमाती हुई पुतलियों को देखने का विफल प्रयास किया करती हैं और अँधेरी सर्द रातों में जब कुत्ते चीखते हैं, ऊँची लम्बी आवाज़ में रोते हैं तो मुझे ऐसा लगता है, जैसे उनमें कहीं कालू की अतृप्त आत्मा भी क्रन्दन कर रही है।

भिश्ती की बीवी

नानकदीन भिश्ती था। सुबह-शाम चौधरी ख़ुदाबख़्श के घर पानी भरने जाता। दोपहर को कहीं और काम करता। इतने से जो आय होती, उसी से खाने-कपड़े का काम चलाता।

उसका घर चंगड़ मुहल्ले की एक तंग और अँधेरी गली में था। मुश्किल से दो कमरे होंगे, पर इन्हीं में वह और उसकी पत्नी 'रखो' जीवन की कठिन मंज़िलें तै कर रहे थे। मार्ग दुर्गम था, कंटकाकीर्ण था, पर मुसाफ़िर जवानी की सुरम्य घाटी से गुज़र रहे थे, इसलिए उन्हें अगली मंज़िलों की कोई चिन्ता न थी।

'रखो' बीस-बाईस वर्ष की सुन्दर युवती थी। गेहुआँ रंग, आँखों में जवानी का मद, सुडौल शरीर, अंग-अंग साँचे में ढला हुआ— ननकू की अँधेरी कुटिया का वह चिराग़ थी। 'रखो' को शहर की दुनिया से कोई सरोकार न था। वह गाँव में ही पैदा हुई, पली और परवान चढ़ी थी। खुली हवा में खेलती, खुली हवा में साँस लेती।

इन तंग अँधेरी गलियों से उसे नफ़रत थी। उसका जी यहाँ न लगता था। हाँ, गलियों की रौनक़ अवश्य उसके दम से बढ़ गयी थी। मधुर-भाषी पक्षी को चाहे पिंजरा अच्छा न लगे, किन्तु पिंजरे की शोभा तो उससे बढ़ ही जाती है।

ननकू का बस चलता तो वह अपनी रखो को सोने से पीली कर देता, उसके रहने को शीश महल बनवा देता, पर एक निर्धन भिश्ती और उसकी आर्ज़ुएँ! मन आकाश की ऊँचाइयों में उड़ना चाहता, शरीर पाताल की गहराइयों में ठोकरें खा रहा था। परन्तु रखो को अपनी स्थिति पर किसी प्रकार का दुख न था। वह सब्र और सन्तोष की पुतली थी। उसे कभी ख़याल तक न आया कि लोग क्या खाते हैं, मैं क्या खाती हूँ; लोग क्या पहनते हैं, मैं क्या पहनती हूँ। चंगड़ों की स्त्रियाँ घी में मिलावट करके गली-मुहल्लों में बेच आतीं और अच्छे पैसे बना लेतीं, पर रखो को इससे नफ़रत थी। वह अपनी निर्धन दुनिया में ही ख़ुश थी। उसे धोखेबाज़ी की चुपड़ी से दयानतदारी की सूखी अधिक पसन्द थी। वह फ़ुर्सत के समय में मूँज की रस्सियाँ बनाती, न होता तो खजूर की टोकरियाँ ले बैठती। इसमें मिलावट का घी बेचने से कहीं कम आय होती, पर मन को संतोष अधिक होता। जब ननकू दिन भर की कमाई उसके हाथ पर रख देता तो उसे जैसे दुनिया भर की दौलत मिल जाती।

ननकू और रखो का जीवन निरन्तर सुख का जीवन हो, यह बात न थी। साधारण गति से चलने वाले पानी में भी कभी-कभी बाढ़ आ जाती। दो घड़ी पहले आकाश निर्मल होता, देखते-देखते अंधकार छा जाता, फिर बादल भी आते, ओले भी पड़ते और वर्षा भी होती। पति-पत्नी में झगड़ा होता। नानक झिड़कता, रखो रूठ जाती। दोनों कई-कई दिन तक एक दूसरे से तने रहते। पर फिर रखो की हँसमुखता

मनोमालिन्य की चट्टान को तोड़कर वह निकलती। सूर्य निकल आता धुंध काफ़ूर हो जाती और फिर वही हँसी, वही ख़ुशी।

सर्दियों के दिन थे, ननकू मश्क लेकर निकला। रखो उठकर झाड़ू देने लगी। सुबह-सुबह वह घर की सफ़ाई इत्यादि से फ़ारिग़ हो जाती थी। कमरों को शीशों की भाँति चमका कर रखती थी। उससे कूड़े-करकट पर न बैठा जाता। मिट्टी की अँगीठी, फटे पुराने कपड़े, रजाई, दुलाई, पुरानी मश्क, चमड़े की आस्तीन और कुंडे— सब उसने अपने-अपने स्थान पर रखे और फिर फ़र्श साफ़ करने लगी। बाहर ठंडी हवा चल रही थी, शरीर ठिठुरा जाता था, पर रखो ने कमरे के किवाड़ खोल दिये थे और शीत की ओर से बेपरवाह, अपने काम में निमग्न थी। उसने कूड़ा-करकट इकट्ठा किया और उसे बाहर फेंकने लगी थी कि पड़ोसिन के खाँसने की कर्कश ध्वनि सुनायी दी। रखो एक क्षण के लिए रुकी। दूसरे क्षण पड़ोसिन ने पुकारा—

'रखो !'

'कौन है, गौहरां ?'

'हाँ, मैं ही हूँ। झाड़ू दे रही है क्या ?' पड़ोसिन ने पूछा और फिर जैसे सहानुभूति-पूर्ण स्वर में बोली, 'ख़ुदा जाने तू किस मिट्टी की बनी हुई है कि इतनी सर्दी में उठकर झाड़ू दे रही है। वह तो, भला चरस का दम लगाकर सर्दी-वर्दी सब कुछ भूल जाता है पर तू......

'क्या कहती हो गौहरां ?' रखो ने बात काटते हुए कहा, 'कौन चरस पीता है ?'

'कौन पीता है,' पड़ोसिन बोली 'वही तेरा ननकू और कौन ? मैं ज़रा उस ओर गयी थी, तो मियाँ ननकू चौधरी के साईस के साथ बैठे चरस के दम लगा रहे थे। पर वह करे भी क्या, इस सर्दी ने तो...'

लेकिन रखो ने और कुछ नहीं सुना, किवाड़ उसी तरह खुले छोड़ कर वह खटिया पर जाकर धम से लेट गयी। वायु का एक तीक्ष्ण झोंका अंदर आया। पर रखो निश्चल लेटी रही। हाँ, एक दीर्घ-निश्वास ज़रूर उसके ओठों से बरबस निकल गया।

पड़ोसिन क्या जाने चरस क्या बला होती है! यह गर्मी कितनी महँगी पड़ती है! एक दिन पहले भी ननकू ने चरस का दम लगाया था। बेहोश-सा आकर पड़ गया था। वह घटना आज तक उसे न भूली थी। रखो दिल ही दिल में चौधरी के साईस को गालियाँ देने लगी। न यह मुआ होता, न ननकू को चरस की आदत पड़ती। उसने उसे कितना समझाया था, कितना कहा था—इस विष को फिर मुँह न लगाना। पर वचन देने पर भी वह आज फिर चरस के दम लगा रहा था—क्या उसे ही अनोखी सर्दी लगती है, दूसरे भिश्ती भी तो आख़िर काम करते हैं। रखो की आँखें भर आयीं। उसी समय ख़ाली मश्क लटकाये, पागलों की तरह ननकू अंदर दाख़िल हुआ।

वह उसी तरह लेटी रही, हिली तक नहीं। ननकू ने आते ही मश्क एक ओर फेंक दी, आस्तीन और कुंडा उतारकर धरती पर पटक दिया और मिट्टी के ठंडे फ़र्श पर लेट गया। आज उसने दूसरी बार चरस का दम लगाया था और बातों-बातों में अधिक चढ़ा गया था। उस समय उसका सिर घूम रहा था, शरीर में एक आग-सी लगी हुई थी, आँखें लाल अंगारा हो रही थी। वह चाहता था कि कहीं पानी की शीतल धार के नीचे जाकर सिर रख दे या किसी तालाब में कूद पड़े। उसने उठ कर घड़े का पानी सिर पर उँडेल लिया। उसे कुछ होश आया। तब भूखी आँखों से उसने चूल्हे की ओर देखा। वह तो किसी निर्धन के पेट की तरह ख़ाली पड़ा था। ननकू दीवार के साथ पीठ लगाकर बैठ गया।

'कुछ खाने को है या नहीं'—उसने पूछा।

'तुम नशा करो, तुम्हें खाने-पीने से क्या ?'—रखो ने जैसे तलवार खींचते हुए उत्तर दिया।

ननकू को अपने होश वापस आते हुए दिखायी दिये, झल्लाकर बोला—'कौन कहता है, मैंने नशा किया है ?'

'तुम्हारी सूरत कहती है !'

ननकू चुप रहा।

रखो बोली, 'आज बाहों में बल है, तन में जान है, कुछ मालूम नहीं होता, कल बुढ़ापा आयेगा, तो कोई दो कौर भी न खिलायेगा।

ननकू से अब चुप न रहा जा सका ! लाल-लाल आँखें निकालकर बोला, 'तेरे बाप के जायँ तो कुछ न देना। घर में बैठकर बातें बनाना जानती हो। ज़रा इस कड़ाके की सर्दी में मश्क उठाकर बाहर निकलना पड़े तो आटे-दाल का भाव मालूम हो जाय। घर में बैठी मुफ़्त की रोटियाँ तोड़ती हो और टर-टर बातें बनाती हो।'

इस से अधिक वह कुछ न कह सका। उठा और अंदर जाकर लेट रहा। रखो ने भी सिर पर लिहाफ़ खींच लिया और रोने लगी। उसके कानों में ननकू के कटु शब्द गूँजने लगे। क्या वही अकेला परिश्रम करता है ? क्या वह बेकार बैठी रहती है ? दिन को दिन और रात को रात उसने कभी नहीं समझा और आज उसे कहा जा रहा है—वह मुफ़्त की रोटियाँ तोड़ती है ! कभी मौक़ा मिला तो वह दिखा देगी, वह क्या कर सकती है— वह नशे की सहायता न ढूँढेगी, आग न तापती फिरेगी।

वह चुप लेटी रही और आँसू बहाती रही। अंदर कोठरी में एक दम सन्नाटा था। नूर का तड़का सुबह में बदला और सुबह दोपहर होने को आयी, पर वह निस्तब्धता भंग न हुई। रखो के आँसू कब के सूख चुके

थे। वह योहीं अनमनी लेटी थी। पर जब दोपहर साँझ में बदलने लगी तो उसके चंचल हँसमुख स्वभाव के लिए चुपचाप लेटे रहना कठिन हो गया। वह उठी। उसने लिहाफ़ उठाकर रख दिया। दबे पाँव जा कर कोठरी के दरवाज़े में देखा—ननकू नंगे फ़र्श पर विसुध पड़ा था। आशंका की झुर-झुरी सी उसके तन में दौड़ गयी। बढ़ कर उसने ननकू के मस्तक पर हाथ रखा—वह ज्वर की तीव्रता से तवे सा जल रहा था।

दिन बीता, साँझ हुई और फिर रात का अँधेरा चारों ओर छा गया। रखो ने इस बीच में न कुछ खाया, न पिया, न आराम किया। ननकू की बीमारी ने उसका क्रोध बिल्कुल शान्त कर दिया था और वह अपनी सुध-बुध भुला कर उसकी सेवा-सुश्रूषा में लग गयी थी। दो बार वह समीप के एक वैद्य के यहाँ से हो आयी थी। जो दवाई उसने बतायी थी वही उसने ननकू को पिलायी थी, किन्तु उससे कुछ भी आराम न हुआ था, बल्कि उसके सिर में अत्यन्त पीड़ा होने लगी थी और दर्द के मारे वह कराह रहा था।

सारी रात रखो उसके सिरहाने बैठी तीमारदारी करती रही। कभी उसका सिर दबाती, कभी तलवे सहलाती, कभी आँखों के पपोटे मलती। लेकिन ननकू को किसी कल चैन न पड़ती। बारे खुदा लग-भग दो बजे उसकी आँखें लगीं तो रखो ने भी वहीं बैठे-बैठे झपकी ले ली। इधर पड़ोस के मुर्ग़ ने प्रातःकाल के आगमन की सूचना दी उधर उसकी आँख खुल गयी। ननकू उस वक्त गहरी नींद सो रहा था। वह उठी, बाहर कमरे में आयी। ननकू की मश्क उसी तरह फ़र्श पर गिरी पड़ी थी। कुंडा और आस्तीन भी दूसरे कोने में पटके हुए थे। उन्हें देखते ही कल की सब बातें रखो को याद हो आयीं। उसके

हृदय की गति तेज़ हो गयी। तो क्या आज वह अवसर नहीं है—उसने दिल में कहा। फिर उसने कुंडा उठाया और उसकी पेटी को अपने शरीर पर कस लिया। आस्तीन उसके बाज़ू पर ठीक न आयी। इसलिए उसे उसने फेंक दिया। मश्क उठायी और दिसम्बर के सुन्न कर देने वाले शीत में बाहर निकल गयी।

चौधरी ख़ुदाबख़्श की आयु कोई तीस-बत्तीस वर्ष के लगभग होगी। वे उन अस्थिर प्रकृति के दुर्बल पुरुषों में से थे, जिनके हृदय में सदैव द्वन्द्व मचा रहता है। अमीर आदमी थे। कहा करते थे, जीवन के पथ पर मनुष्य को बच-बचकर चलना चाहिए। यदि दिल के घोडे को खुला छोड़ दिया तो सवार की ख़ैर नहीं। सदैव उसे रोकने में ही लगे रहते थे। जीवन के कठिन मार्ग पर यदि उन्हें कहीं सुरम्य दृश्य दिखायी भी दिये तो उन्होंने उधर से आँखें फेर लीं। यदि दोस्तों की महफ़िल में कहीं एक-दो घूँट पी आते तो कई दिनों तक घर से बाहर क़दम न रखते। यदि कहीं एक बार पान चबा लेते तो फिर बार-बार कभी भी पान को मुँह न लगाने की क़समें खाते। यदि एक बार किसी युवती को देखकर दिल मचलता तो उसे बरबस क़ाबू में रखने का प्रयत्न करते। पाँच वक़्त नमाज पढ़ते; पूरे रोज़े रखते और भरसक जीवन के प्रलोभनों से बचने का प्रयास करते। इस पर भी दिल का घोड़ा जब बिदकता तो आप लगामें खींचते ही रह जाते। उनकी दशा उस चोर की सी थी जो एक बार चोरी करने के बाद पछताता है, किन्तु जब फिर कोई अवसर देखता है तो उसके हाथ अपने आप चीज़ उठा लेते हैं।

आज कुछ दिनों से उनके हृदय में फिर एक द्वन्द्व छिड़ा हुआ था। सायं-प्रातः दोनों समय रखो पानी भरने आती थी। सादे और मोटे कपड़ों

में उसका हुस्न फूटा पड़ता था। पहले दिन जब संध्या के समय उन्होंने उसे मश्क उठाये हुए आते देखा तो वे आश्चर्य-चकित रह गये थे। किसी स्त्री को पानी से भरी हुई मश्क उठाये हुए देखने का उनका यह पहला ही अवसर था। उनका विचार था—मुझे देखते ही रखो धरती में गड़ जायगी। किन्तु जब वह निश्चिन्त भाव से उनके सामने से गुज़र गयी, तब उन्होंने उसे बुलाया और पूछा—

'तुम क्यों आयी हो?'

रखो ने सरलता से उत्तर दिया, 'ननकू बीमार है।'

चौधरी साहब और कुछ न पूछ सके। रखो चली गयी।

रात को चौधरी साहब सो न सके। सारी रात सीधे-साधे सरल सौन्दर्य की वह प्रतिमा उनकी आँखों में घूमती रही। क्या हुस्न है! क्या ख़ूबसूरती है! आवरण चाहे कितना भी मैला क्यों न हो, पर जिसके पास ख़ूबी है, वह कहीं छिपाये छिप सकती है? दिल-ही-दिल में उन्होने कई बार यह शेर पढ़ा--

नहीं मुहताज ज़ेवर का जिसे ख़ूबी ख़ुदा ने दी!

आज उन्हें इस शेर की सचाई का अनुभव हुआ। दूसरे दिन जब रखो आयी तो उन्होंने उसे ललचायी हुई निगाहों से देखा। वह आयी और चली गयी। उन्हें किसी तरह का साहस न हो सका।

दोपहर-भर उनकी आत्मा उन्हें कोसती रही। उन्होंने स्वयं अपने आपको धिक्कारा, लॉनत-मलामत की, किन्तु जब संध्या समय रखो उनके दीवानख़ाने के सामने से पानी की मश्क उठाये हुए गुजरी तो उनके सद्विचार हवा हो गये और उनका सब आत्मसंयम धरा का धरा रह गया।

जब पानी की मश्क उठाये वह आँगन से गुज़री तो उन्होंने योंही साईस को आवाज़ दी, 'अबे हामिद, यह पचास रुपये के नोट ले जाकर अंदर रख दे!' यद्यपि व जानते थे कि न हामिद वहाँ था, न उनकी

जेब में नोट थे। दूसरी बार जब वह आयी तो उन्होंने जेब में रुपये खनखनाये। वह आती, मश्क उँड़ेलती और चली जाती। चौधरी साहब इस बीच में उसे क़ाबू में लाने की युक्तियाँ सोचते। जब वह अन्तिम बार मश्क लेकर आयी तो चौधरी साहब बरामदे से उठकर अंदर अपने कमरे में जाकर मेज़ पर बैठ गये और एक पुस्तक उन्होंने अपने सामने रख ली। उनका दिल बेतरह धड़क रहा था। पर वे ऊपर से शांत बने बैठे रहे। जब वह मश्क उँड़ेलकर जाने लगी तो उन्होंने पुस्तक से ध्यान उठाये बिना उसे आवाज़ दी। रखो मश्क के मुँह को पीछे की ओर करती हुई चौखट में आ खड़ी हुई। दायें हाथ से उसने मस्तक पर बिखरी हुई बालों की दो लटों को पीछे हटाया और बोली, 'आपने बुलाया सरकार?' न वह तनिक झेंपी, न झिझकी।

चौधरी साहब ने बिना पुस्तक से आँखें उठाये कहा—

'क्या हाल है अब ननकू का?'

'पहले से तो अच्छा है सरकार!'

चौधरी साहब उठकर चारपाई पर जा बैठे और पाँच रुपये निकालकर उन्होंने फ़र्श पर फेंक दिये और बोले, 'दवा-दारू के लिए तुम्हें रुपयों की ज़रूरत होगी। ननकू की तनख़्वाह हमारी ओर निकलती है। यह ले जाओ।'

रखो अंदर चली आयी। क्षण भर के लिए उसका मन चौधरी साहब की सहृदयता से प्रभावित हो उठा। उन्हें दीन-दुखियों का कितना ख़याल है? उनका भिश्ती बीमार हुआ तो स्वयं ही उसकी सहायता को तैयार हो गये। पर जब उसने निगाहें ऊपर उठायीं तो खड़ी की खड़ी रह गयी। चौधरी साहब की आँखों में कुछ ऐसी ही बात थी। रखो को ख़याल आया—अभी हाल ही में तो ननकू ने तनख़्वाह उसके हाथ पर रखी थी, अब उसके कौन-से रुपये चौधरी साहब की

ओर निकलते हैं। उसके हृदय में आशंका ने सिर उठाया और इसके साथ ही लज्जा की लाली उसके कपोलों पर दौड़ गयी। पहली बार उसने महसूस किया वह दुर्बल है और कोई उसे नुक़सान भी पहुँचा सकता है। कुछ समय बाद बोली—'आप इन्हें रहने दें। कुछ दिन बाद वह स्वयं आकर ले जायगा।'

यह कहकर वह वापस मुड़ने को ही थी कि चौधरी साहब ने उठकर उसका हाथ थाम लिया और जैसे कंठ में बोले, 'ले जाओ, डरती क्यों हो?'

'मैं नहीं ले सकती।' उसने सिर झुकाकर कहा। उस समय वह चौधरी साहब की आँखों से आँखें न मिला सकी।

चौधरी साहब की आँखों पर वासना का पर्दा छाया हुआ था। उन्होंने एक हाथ से उसकी मश्क को परे फेंका और उसे अपनी ओर खींचते हुए काँपते सूखे स्वर से कहा, 'डरती क्यों हो?'

उसी समय उनके साईस ने आकर धीरे से दरवाज़ा बंद कर दिया और बाहर से कुंडी चढ़ा दी। चौधरी साहब ने उसे कह रखा था। उनके काँपते हुए शरीर को, उनके मुख को, उनकी आँखों की पैशाचिक चमक को, देखकर रखो कई क़दम पीछे हट गयी। उसकी आँखें क्रोध से लाल हो रही थीं। खुर-खुर करनेवाली मिसकीन बिल्ली अब निर्भीक सिंहिनी बन गयी थी। चौधरी साहब ने अपनी वासना-युक्त आँखें रखो की जलती हुई आँखों में डाल दीं और मदमत्त शराबी की भाँति आगे बढ़े।

रखो ने एकबार बेबसी की आँखों से इधर-उधर देखा और फिर इस ज़ोर से चौधरी साहब को लात जमायी कि वह लुढ़कते हुए चारपाई पर जा पड़े। उसने कमरे से भागना चाहा पर किवाड़ बंद थे। चौधरी साहब चोट खाये हुए नाग की भाँति उठे। एक क्षण के लिए उन्होंने

रखो पर क़ाबू पा ही लिया था कि रखो ने अपने शरीर की समस्त शक्तियों से उन्हें ढकेल दिया और हाँपते हुए कहा—'खुदा ने धनी निर्धन में इज़्ज़त का एक सा अहसास पैदा किया है। ग़रीबों को भी अपनी इज़्ज़त उतनी ही प्यारी है, जितनी अमीरों को।' यह कहते-कहते उसने किवाड़ों पर ज़ोर-ज़ोर से धक्के दिये। साईस ने डर के मारे दरवाज़ा खोल दिया और इससे पहले कि चौधरी साहब उठते, रखो भाग गयी। उस समय उसे किसी बात का ज्ञान नहीं था। ऐसे भाग रही थी, जैसे जेल के दरवाज़े तोड़कर भागी हो।

उस रात रखो को नींद न आयी। उसे रह-रहकर अपने ऊपर क्रोध आता था। वह सोचती, मैंने चौधरी को यथेष्ट दंड क्यों न दिया? मुझे उसका गला घोंट देना चाहिए था। बला से फाँसी हो जाती। अपनी इज़्ज़त पर हाथ डालनेवाले को उचित सज़ा तो दे देती। काश उस वक्त उसके हाथ में छुरा होता तो उस पिशाच के सीने में भोंक देती। सारी रात उसे बुरे-बुरे सपने आते रहे। सुबह उठी तो देर हो गयी थी और उसका अंग-अंग दर्द कर रहा था।

आज उसका जी कहीं जाने को न चाहता था। वह कितनी ही देर असमंजस में बिस्तर पर बैठी रही। पर ननकू अभी पूरी तरह स्वस्थ न हुआ था। जाना तो पड़ेगा ही। कितनी देर तक वह बैठी सोचती रही। आख़िर उठी। उसने मश्क को उठाया और बाहर चलने को तैयार हुई, किन्तु फिर रुक गयी। उसके हृदय में साहस था, पर दुर्बलता भी कम न थी। कुछ क्षण वह उसी तरह शशोपंज की हालत में खड़ी रही। फिर उसने निश्चयात्मक रूप से सिर हिलाया। धरती पर पड़ी हुई चमड़ा काटने की छुरी उठाई और उसे कमर में पेटी के नीचे छिपा लिया। फिर उसने साहस से क़दम बढ़ाया।

लेकिन चौधरी साहब रात भर की आत्म-ग्लानि और पश्चात्ताप से सीधे रास्ते आ गये थे। वह उनके दीवानख़ाने के सामने से होकर गुज़री तो उन्होंने उसे देखकर भी नहीं देखा। लेकिन रखो का दिल धड़कता रहा। उसका एक हाथ कई बार छुरे पर गया। वह सब ओर से चौकन्नी रही। पर वह बार-बार मश्क लायी और वापस ले गयी। कुछ भी न हुआ। जब वह पानी भर कर घर की ओर पलटी तो जहाँ उसने सुख की साँस ली, वहाँ एक नया बल भी अपनी नस-नस में महसूस किया।

घर जाकर उसने मश्क एक ओर रखी और पहले ननकू के लिए काढ़ा तैयार किया। बाँह के सहारे उसे उठाकर वह काढ़ा पिला रही थी कि चौधरी साहब का नौकर हामिद चौखट में आ खड़ा हुआ।

'कहो भाई क्या हाल है ननकू?' वह तनिक अंदर आ गया।

दवा पिलाकर रखो ने उसे लिटा दिया। 'अब तो पहले से अच्छे हैं,' कहते हुए वह खटिया से नीचे उतर आयी।

तब खटिया की पट्टी पर बैठते हुए हामिद ने दस रुपये के नोट निकाल कर ननकू के हाथ पर रख दिये और कहा कि चौधरी साहब ने उसका हाल पूछा है और दवा-दारू को रुपये भेजे हैं। कहा है कि हमारे पानी की फ़िक्र तुम लोग न करो, बहाउद्दीन को आर्ज़ी तौर पर पानी भरने के लिए कह दिया है। पूरा आराम आये तभी आना।

ननकू ने लाख-लाख दुआएँ दीं। रखो के ओठों पर विद्रूप भरी मुस्कान खेलने लगी।

'भगोड़ा' उसने मन ही मन कहा और बालों की लट को हटाते हुए झाड़ू-बुहारी में जुट गयी।

चैन का अभिलाषी

काला चोग़ा पहने कोई व्यक्ति बात-बात की आहट लेता नगर की गलियों में घूम रहा था।

उज्जैन की ऊँची अट्टालिकाएँ निशीथ-नीरवता में हिमालय के उच्च शिखरों की भाँति मौन खड़ी थीं। तिमिराच्छन्न निस्तब्धता उन्हें माँ की तरह अपनी गोद में छिपाये हुए थी। छोटी-छोटी संकरी गलियाँ पहाड़ों के अँधेरे दर्रों की भाँति निस्तब्ध थीं।

अब वह नगर के सम्पन्न भाग को छोड़ कर वहाँ आ गया था, जहाँ से धनी लोग गुज़रना भी पसंद नहीं करते।

गली में, जिसके मकान पत्थर के बदले मिट्टी की टेढ़ी-मेढ़ी दीवारों के बने हुए थे, किसी ने कहा—"भगवान संसार को शान्ति दे!" और फिर एक दीर्घ-निश्वास!

चोलेवाला चौंक पड़ा। वह गली के एक सिरे पर खड़ा था, उसने पास आकर कहा—"कौन आह भर रहा है?"

अचानक उसके पाँव धरती पर लेटे किसी व्यक्ति से टकराये। वह ठिठक गया। पाँवों के पास से आवाज़ आयी, "चैन का अभिलाषी!" फिर चोलेवाले की ओर संकेत करके उसने पूछा—"तुम कौन हो?"

"शान्ति का इच्छुक!"

"किधर घूम रहे हो?"

"यहीं उज्जैन की गलियों में।"

"क्यों?"

"अशान्ति का मूल ढूँढ़ने के लिए।"

"मिल गया?"

"अभी नहीं।"

"मैं दिखाऊँ?"

चोले में कुछ हरकत हुई। चोलेवाले ने कहा—"उठो दिखा दो!"

फिर उसके पाँव के पास ही से एक व्यक्ति उठ खड़ा हुआ, जादू की कहानियों के देव की भाँति। उसने अपने कपड़े झाड़े—जीर्ण-शीर्ण और जगह-जगह से कटे-फटे। चोलेवाला हिला नहीं। उसने केवल इतना अनुभव किया कि यह व्यक्ति जो अभी उठा है अपनी वाणी में कुछ विशेष प्रकार की शक्ति रखता है, जो हृदय पर प्रभाव डाले बिना नहीं रहती।

कहीं से चाँद का मलिन प्रकाश गली के अँधेरे को दूर करने लगा। उस व्यक्ति ने चोलेवाले की तरफ़ तेज़ आँखों से देखा। उसे महसूस हुआ जैसे चोले को चीर कर वह दृष्टि उसके हृदय में चुभी जा रही है। वह सिहर सा उठा।

'चैन के अभिलाषी' ने चोलेवाले व्यक्ति के कंधे पर हाथ रखा और दूसरे हाथ से गली के एक सिरे से दूसरे सिरे तक संकेत किया।

"समझे?"

"क्या ?"

"अशान्ति का निवास-स्थान !"

"यहाँ ?"

"हाँ !"

"यहाँ कौन रहते हैं ?"

"संसार के निर्धनतम व्यक्ति।"

"निर्धनतम व्यक्ति—अर्थात् ?"

"दिन रात श्रम करने वाले निर्धन और विपन्न !"

"परिश्रम तो सभी करते हैं ?"

"परन्तु सब विपन्न नहीं ! यहां वे लोग रहते हैं जो दिन-रात जी तोड़ कर श्रम करते हैं, किन्तु इस पर भी उन्हें भर पेट खाना नहीं मिलता।"

"पर ये अशान्ति का कारण कैसे हो सकते हैं ?"

उस व्यक्ति ने चोलेवाले को कंधे से थामा और उसे गली के मध्य एक दरवाज़े तक ले आया।

"देखो !"

जीर्ण-शीर्ण किवाड़ के छेदों में चोलेवाले व्यक्ति ने आँखें लगा दीं।

"देखा ?"

"हाँ !"

"क्या देखा तुमने ?"

"एक दुर्बल वृद्ध रोग-शय्या पर पड़ा है और एक निस्तेज युवक उसके शरीर को दबाने का प्रयास कर रहा है।"

"और देखो......!"

और वह उसे एक और दरवाज़े के पास ले गया। इस मकान की छत गिरी हुई थी, किवाड़ भी नाम मात्र हो को थे। गिरे हुए मकान की

मिट्टी को एक ओर करके पुराने-से टाट पर कृषकाय बुढ़िया ऊँघ रही थी। उसके पास ओढ़ने के लिए एक ही कपड़ा था और उसका शरीर सूख कर काँटा हो गया था।

इसके बाद वह चोलेवाले को वहीं ले आया, जहाँ वह धरती पर लेटा हुआ था। मकान का दरवाज़ा खोल कर वह उसे अंदर ले गया।

आँगन में मानो मृत्यु पहरा दे रही थी। निस्तब्धता थी और दालान में एक टूटी-सी खटिया पर एक सूखे-से बच्चे का शव पड़ा था, आत्मा जिसके शरीर को कब की छोड़ चुकी थी। मौत के इस दृश्य को देख कर चोलेवाला सिहर उठा।

"जानते हो यह कौन है?"

चोलेवाला चुप रहा।

"यह मेरा बच्चा है। वही जो मेरी अँधेरी आँखों की ज्योति था, परन्तु जो अब स्वयं ज्योति-हीन है। यह वही है जिसे पाने के लिए लोग सौ-सौ मन्नतें मानते हैं, दान करते हैं, पुण्य करते हैं और जिसे पाने पर वे ख़ुशी से दीवाने बन जाते हैं। हाँ, यह वही पुत्र-रत्न है, परन्तु मैं इसे पाकर भी सुखी न हो सका, पाने पर इसे समुचित रूप से पाल न सका। और अब, जब यह मर गया तो इसके लिए कफ़न का भी प्रबन्ध......"

चोलेवाले की आँखें भर आयीं और उसने चोले से उन्हें पोछ लिया।

भरे हुए गले से वह व्यक्ति बोला, "तुम रोते हो, अपरिचित होकर! परन्तु मैं पिता हो कर भी नहीं रोता। इसलिए नहीं कि मुझे रोना नहीं आता, बल्कि इसलिए कि मेरी आँखों के आँसू सूख गये हैं।"

एक दीर्घ-निश्वास लेकर वह चोलेवाले को फिर गली में ले आया। चाँद अब ऊँचा हो कर चमक रहा था और उसकी मलिन किरणें दोनों पर पड़ रही थीं।

"समझ गये अब !"

"क्या ?" चोलेवाले ने चौंक कर कहा।

"अशान्ति के कारण।"

चोलेवाला सोचने लगा।

"यही तो अशान्ति के कारण हैं। पहले मकान में जो वृद्ध है, वह तीन दिन से बीमार है, परन्तु उसके सिरहाने जो युवक बैठा है, उसने तीन दिन से कुछ नहीं खाया। उसे रोटी नहीं मिलती, क्योंकि वह अपने बीमार पिता को छोड़ कर काम पर नहीं जा सकता। दूसरे मकान में वह वृद्धा रहती है जिसने अपने तीन बच्चों को भूख से सिसक सिसक कर जान देते देखा है और जो भीख माँग कर स्वयं जीवन-यापन करती है और तीसरा घर मुझ मंद-भाग्य का है। मेरी दशा भी उनसे कम बुरी नहीं। इन घरों में सब दुखी लोग बसते हैं और यही किसी समय देश में अशान्ति फैलाने का कारण बनते हैं। जैसे मेरा बच्चा मरा है और मैं बेचैन हूँ, इसी तरह जब उस युवक का बाप मर जायगा, उसका चैन भी छिन जायगा, उसके मन में भी अशान्ति पैदा हो जायगी और उस अशान्ति में वह कुछ भी कर सकता है।"

"परन्तु तुम लोग धर्मार्थ औषधालयों में क्यो नहीं जाते ? वहाँ मुफ़्त औषधि मिलती है। शाही लंगरख़ाने में निर्धनों को धर्मार्थ खाने को मिलता है और राज्य की ओर से संचालित उद्योग-धंधों में मज़दूरों के लिए मज़दूरी की भी कमी नहीं। हर प्रकार का प्रबंध राज्य द्वारा किया गया है। तुम उसका लाभ न उठाओ तो इसमें दोष किसका है ?"

"कहाँ मिलती है औषधालयों में दवाई और कहाँ हैं लंगरखाने ? पहले राजा के आँख बंद करते ही राज कर्म-चारियों ने वह अँधेर मचा रखा है कि क्या कहूँ। नहीं तो हमारी क्या यही दुर्गति होती ?"

"पर तुम्हें राजा के पास जाना चाहिए।"

"हमें वहाँ कौन फटकने देगा ? वह ठहरा अधिकारियों से घिरा हुआ, कौन जाने हमारी सुने भी या नहीं !"

"तुम जाकर तो देखो।"

"देख लेंगे।"

कुछ क्षण के लिए दोनों चुप हो गये और गली में फिर निस्तब्धता छा गयी। फिर चोलेवाला कुछ संकोच के साथ बोला—"एक बात पूछ सकता हूँ ?"

"क्यों नहीं !"

"तुम्हारी जाति क्या है ? तुम नीच जाति के मालूम नहीं होते !"

"मैं जाति-पाँति से परे हूँ, हमारी कोई जाति नहीं ! हम सब श्रमिक हैं। यही हमारी जाति है और यही व्यवसाय।"

"फिर भी ?"

"मैं ब्राह्मण हूँ !"

चोलेवाला चौंक पड़ा—"ब्राह्मण ? श्रमजीवी !"

"हाँ ब्राह्मण और श्रमजीवी। ब्राह्मण और श्रमिक में अन्तर ही क्या है ? जो जैसा काम करे वैसा ही वह है।"

"आप मन्दिर में क्यों नहीं रहते ?"

"कभी रहता था, यह मन्दिर क्या, राज-मन्दिर में रहता था, परन्तु अब नहीं, पूछ कर क्या करोगे ? ये दुखी लोग मुझे यहाँ खींच लाये हैं और अब तो मैं इनके ही दुख से दुखी हूँ और इनके ही सुख से सुखी !"

चोलेवाला चुप हो गया। उसने अपने चोले की भीतरी जेब से मुट्ठी भर अशर्फियाँ निकालीं और उन्हें ब्राह्मण के हाथ में देकर बोला—"ब्राह्मण देवता इनसे बच्चे का दाह-कर्म करो !"

ब्राह्मण ने देखा वह धीरे धीरे वापस जा रहा था।

राजा ने आँखें मलते हुए कहा—"नींद नहीं आती !"

परिचारिकाएँ तेजी से पंखे हिलाने लगीं।

"क्या समय होगा ?"

"तीन पहर रात बीत चुकी है, महाराज !"

"गर्मी बहुत है !"

"हाँ, महाराज !"

"पंखे बंद करदो !"

"आग बरस रही है महाराज।"

"कोई बात नहीं।"

परिचारिकाओं ने पंखे बंद कर दिये।

राजा फिर लेट गया। कमरे खूब ठंडे थे। परन्तु उसके मन में आग सुलग रही थी। उसका दिल ग़रीबों के घरों में विचर रहा था, जहाँ सुख और आराम के ये साधन नहीं, जहाँ अशान्ति है और दुःख है—"यही अशान्ति का मूल है ?"—उसने बड़बड़ाते हुए कहा, "मेरे राज्य में विपन्नता न रहेगी, उसका नाश होगा।"

वह अचानक उठ बैठा। परिचारिकाएं डर गयीं।

"जाओ मन्त्री से कहो कल दरबार का प्रबंध करें।"

"जो आज्ञा महाराज !"

एक दासी चली गयी। राजा फिर लेट गये। सेविकाओं ने फिर पंखे हिलाने का यत्न किया। राजा ने उन्हें रोक दिया।

उसे नींद नहीं आयी।

दरबार लगा हुआ था। राजा विक्रमादित्य अपने बहुमूल्य सिंहासन पर बैठे हुए थे। युवा सूर्य की भाँति उनका तेज आँखों में चकाचौंध पैदा कर रहा था।

सब निस्तब्ध थे। दरबार में नीरवता छायी हुई थी। क्या आज्ञा होती है, सब इसकी प्रतीक्षा कर रहे थे। राजा के ओठ हिले—

"अशान्ति कहाँ निवास करती है ?"

"जहाँ विद्वानों का सम्मान नहीं होता !"

"जहाँ अकाल पड़ते हों और लोग बेकार हों !"

"जहाँ प्रजा अशिक्षित हो !"

"जहाँ राजा निर्दयी हो !"

"जहाँ भ्रष्टाचार फैला हो और बाढ़ खेती को खा रही हो !"

"जहाँ शासन का प्रबन्ध अच्छा न हो और डाके पड़ें !"

"जहाँ दासता का राज्य हो !"

"जहाँ लोग अपनी मर्य्यादा का पालन न करें !"

आठ विद्वान चुने जा चुके थे। परन्तु राजा को संतोष न हुआ था। उसने कहा—"किसी राज्य में अशान्ति का सबसे बड़ा कारण क्या है ?"

"निर्धनता ! जहाँ गरीबों को कोई न पूछे और मज़दूर-किसानों को पेट भर कर रोटी न मिले, वहीं अशान्ति का जन्म होता है।"

सब की दृष्टि उस ओर उठ गयी।

राजा सिंहासन से उतर पड़ा। वह व्यक्ति आगे बढ़ आया। उसके पाँव नंगे थे और वस्त्र मैले तथा फटे-पुराने।

राजा ने उसके पाँव छुए और कहा, "चैन के अभिलाषी को प्रणाम करता हूँ।"

"शान्ति के इच्छुक चिरंजीवी रहो !"

नवरत्न चुने जा चुके थे। निर्धनता के विनाश का काम ब्राह्मण के सुपुर्द हुआ।

काकड़ाँ का तेली

'अढ़ाई रुपये !' मौलू ने सिर हिलाकर अपनी पत्नी की ओर देखा— उन आँखों से, जो मानो कह रही थीं कि कम्बख़्त ताँगेवाले की अक़्ल शायद घास चरने चली गयी है !

अभी मुश्किल से आठ-साढ़े आठ का वक़्त होगा, किन्तु दिन पहाड़-सा निकल आया था। सूरज बिल्कुल सिर पर मालूम होता था। गर्मी इतनी थी कि दम घुटा जाता था। गर्द की हल्की-सी धुंध चारों ओर छायी हुई थी और इस कारण किरणें यद्यपि सीधी न पड़ती थीं तो भी शरीर के नंगे भागों में नोकें-सी चुभती हुई महसूस होती थीं।

मौलू ने अपनी बड़ी-सी पगड़ी को ठीक किया (जिसे उसकी पत्नी ने रात को रेठों के पानी से धोया था; चावलों की कनी को पकाकर कलफ़ लगाया था और जिसे दोनों सिरों से पकड़कर उसकी दोनों बेटियों ने आँगन में चक्कर लगाकर सुखाया था; जो रात भर तह करके रखी रही थी; जो इस समय उसके सिर पर चमक रही थी और सिर के

झटके से एक ओर को हो गयी थी।) फिर उसने अपनी सफ़ेद दाढ़ी पर (जो ओठों के पास पीली सी हो गयी थी।) हाथ फेरा; गठड़ी को बायें कंधे पर करके दायें हाथ से तहमद को ज़रा-सा झटका दिया और चल पड़ा।

बीबाँ—उसकी पत्नी—ने सामने जाते हुए ताँगे के पीछे उड़ती हुई धूल में आँखें गड़ा दीं और बोली—'अढ़ाई रुपये! इतने से तो पंद्रह दिन का ख़र्च चल सकता है, और नहीं तो फ़ज्जे की दो कमीज़ें या मेरे नन्हें चिराग़ की कई कुरतियाँ बन सकती हैं।' और उसने गोद के, उबली-उबली सूजी-सूजी आँखोंवाले, काले-स्याह बच्चे को स्नेह से चूम लिया।

जूते के साथ गर्द उड़कर मौलू के तहमद पर पड़ रही थी। रात उसकी पत्नी ने पगड़ी और कमीज के साथ उसको भी धोया था और नील भी दिया था, जो शायद रात के अँधेरे में अधिक दिया गया था, क्योंकि तहमद की सफ़ेदी में हल्की सी नीलाहट साफ़ दिखायी दे रही थी और ज्यों-ज्यों गर्द पड़ती थी, वह और भी उभरती थी। मौलू ने फिर एक झटका देकर तहमद को ऊपर खोंस लिया। 'इन साले ताँगेवालों ने सड़क का सत्यानास कर दिया है, मिट्टी मैदा बन गयी है,' वह बदबदाया और उसने अपनी पत्नी और उसके पीछे आनेवाली दोनों लड़कियों और सात-आठ वर्ष के बच्चे से कहा कि वे सड़क छोड़कर मेंड़-मेंड़ होकर चलें!

लेकिन वहाँ तो सिर्फ़ ताँगे ही चलते थे, जब मौलू तीन-चार मील चलकर भीलोवाल के पास पहुँचा, जहाँ मोटर लारियाँ भी तशरीफ़ लाती थीं और बकरियों और भेड़ों का एक रेवड़ 'मैं-मैं' 'भैं-भैं' करता हुआ क़स्बे से निकला और रात-भर बाड़े में बन्द रहने के बाद चंचल और शोख़ बकरियाँ (जो माएँ न बनी थीं और जिनके स्तन इतने

भारी न थे कि उनके नीचे थैली की ज़रूरत पड़े।) और जीवन की कटु-वास्तविकता से अनभिज्ञ लेले कुलाचें भरने लगे तो मौलू को इस मैदे की यथार्थता का पता लगा—गर्द इस तरह उड़ी कि उसके लिए आँख खोलना और मुड़कर अपने बच्चों को देखना तक असंभव हो गया।

जब तूफ़ान कुछ थमा और बकरियों और भेड़ों की आवाज़ों को दबाती हुई चरवाहों की कर्कश गालियाँ श्रवण-शक्ति की सीमा से परे चली गयीं तो मौलू सड़क को पार करके दूसरी ओर गेहूँ के कटे हुए खेत में जा खड़ा हुआ। गठरी उसने उतार कर धरती पर रख दी। तहमद और कमीज़ को अच्छी तरह झाड़ कर उसने सिर से पगड़ी उतारी और उसे भलीभाँति झाड़ा; कमीज के दामन को उलटा करके उससे मुँह पोछा; फिर पगडी बाँधी और बीवी-बच्चों को आवाज़ दी कि वे भी सड़क के इस किनारे आ जायें!

धूल जैसे दायीं ओर धरती और आकाश के मध्य जाकर लटक गयी थी। एक लम्बी सी लकीर वहाँ बनी हुई थी। ज्यों-ज्यों रेवड़ आगे बढ़ता जाता था, यह लकीर भी बढ़ती जाती थी। इस बढ़ती हुई लकीर की ओर देखकर और दिल ही दिल में चरवाहों को कई अश्लील गालियाँ देकर आख़िर मौलू ने कहा—'बेतमीज़ नहीं जानते कि रास्ते में शरीफ़ लोग जा रहे हैं, ज़रा ख़बरदार ही कर दें कि भई एक तरफ़ हो जाओ! बस उड़े चले जाते हैं, जैसे मुहिम सर करने जा रहे हो—हरामजादे!' और उसने अपनी मूँछों को दो बार प्यार देते हुए अपनी दाढ़ी पर हाथ फेर लिया।

'शरीफ़' से मौलू का क्या अभिप्राय था—यह बात उसे स्वयं मालूम न थी। वह 'काकड़ाँ' का तेली था—गाँव के इस किनारे, जहाँ बरगद का एक महान् विटप बढ़ कर आधे जौहड़ को अपने अधिकार में

ले चुका था, उसने एक छोटा-सा कोल्हू लगा रखा था। जौहड़ के किनारे-किनारे कूड़े* के ढेर लगे हुए थे। कभी जब वर्षा होती तो जौहड़ का पानी अपने किनारों के ऊपर से बह निकलता, मार्ग अवरुद्ध हो जाता, टाँगें घुटनों तक कीचड़ में धँस जातीं और कूड़े की ढेरों की दुर्गन्ध वट के साये की नर्मी में जैसे वहीं जमकर रह जाती—लेकिन अपने जीवन के ५५ वर्ष मौलू ने वहीं बिताये थे। गाँव से बीस मील परे क्या होता है, इसकी उसे कभी ख़बर न हुई थी। जीवन में शायद तीन-चार ही ऐसे अवसर आये थे, जब उसे धुले हुए कपड़े पहनने को मिले थे। ईद पर हर साल वह अवश्य कपड़े बदला करता था। किन्तु उसका कपड़े बदलना यही होता कि नंगे बदन रहने के बदले वह उस दिन कमीज़ भी पहन लेता या बीबाँ अधेले के रेठे लेकर उन्हें मल डालती, नहीं उसकी आयु तो तेल में सने हुए काले, चीकट कपड़ों में गुज़र गयी थी। कपड़ों में क्या—आयु का अधिकांश भाग तो उसने महज़ एक तहमद में गुज़ार दिया था। जिस तरह पास रहते हुए भी जौहड़ के गंदे पानी और उसके किनारे लगे हुए गंदगी के ढेरों में उसके लिए कोई दुर्गन्ध न रही थी, इसी तरह तेल और पसीने से तर, गंदे, मैले, जीर्ण, जर्जर कपड़ों के लिए भी उसकी संज्ञा मर गयी थी। और रही गर्द, तो मात्र तेल के काम से इस गाँव में आजीविका की सूरत न देख कर उसने वहीं कोल्हू के एक ओर चाक लगा रखा था, जहाँ वह घड़े, कुज्जे, लोटे, दौरियाँ, मटके बनाया करता था। वह जाति से कुम्हार था या तेली?—इस बात का स्वयं उसे पता न था। अपने दादा और फिर पिता को उसने यही काम करते देखा था और जब से उसने होश सम्हाला था, वह यही काम किये जा रहा था। जब उसके हाथ तेल में न होते तो मिट्टी में होते। रही शिक्षा, तो क़ुराने-पाक

*कूड़े = गंदगी।

की कुछ आयतों के अतिरिक्त (जो वह ग़लत उच्चारण के साथ बड़ी तन्मयता से पढ़ा करता था।) उसने वे सब गालियाँ सीखी थीं जो उसके दादा, फिर बाप और फिर बड़े भाई दिया करते थे। किन्तु आज इस मिट्टी और इस वातावरण के विरुद्ध, जिसमें कि वह जन्मा, पला और परवान चढ़ा, जो ऐसी घृणा की भावना उसके मन में उत्पन्न हो गयी और वह अर्धनग्न, जीर्ण-शीर्ण तहमदों में आवृत्त, अपने कपड़ों के अभाव की ओर से बेपरवाह चरवाहों को 'बे-तमीज़' और 'असभ्य' समझने लगा तो इसका कारण था। पहले तो यह कि वह अपने उस छोटे भाई के लड़के की शादी में शामिल होने के लिए जा रहा था, जो लाहौर में रहता था। और देहाती की अपेक्षा अधिक शहराती हो गया था, फिर देहातियों के लिए शहरवाले शरीफ होते हैं और चूँकि वह स्वयं एक शरीफ आदमी के लड़के की शादी में जा रहा था, इसलिए वह भी शरीफ़ ही था। फिर यह कि उसने अत्यन्त साफ-सुथरे कपड़े पहन रखे थे—और शराफ़त तो एक सापेक्ष-सी चीज है—शरीफ़ वह है जो शरीफ़ नज़र आये और 'काकड़ाँ' में रहते हुए वह जो कुछ भी हो, इस रास्ते पर जाता हुआ वह काफ़ी शरीफ़ और प्रतिष्ठित मालूम होता था।

वैरोके के समीप एक खाल* पानी से भरी, किसी बड़े अजगर की तरह, मज़े से रींग रही थी। मौलू ने उसे पार किया, फिर गठरी रख-कर हाथ बढ़ा, बच्चे को थामा और अपनी पत्नी को खाल पार करने में सहायता दी। रहमाँ पहले स्वयं छलांग मारकर इधर आयी, फिर उसने फ़ज्जे को पार उतरने में मदद दी, किन्तु लहराँ के जूते की एक मेख़ उभर आयी थी और उसकी दायीं एड़ी में घाव हो गया था। नीचे धरती गर्म लोहे की भाँति तप रही ती, इसलिए वह नंगे पाँव चलने

*खाल = रजबहा

का साहस न कर सकी थी और एड़ी उठाये, अपने दुपट्टे से गर्दन पर निचुड़ते हुए पसीने को पोंछती हुई चली आ रही थी और बहुत पीछे रह गयी थी।

'अरी तू अब तक पीछे ही लटकती हुई चली आ रही है; पाँव तेरे टूट गये हैं क्या ?'—और पल भर के लिए अपनी शराफ़त को भूलकर मौलू ने एक अश्लील गाली अपनी लड़की को दे डाली।

'मुझसे चला नहीं जाता', लहराँ ने जैसे रोते हुए कहा।

मौलू ने गठरी उठाकर जामुन के एक पेड़ के नीचे रख दी। 'ला इधर, मैं इस मेख़ को ठीक कर दूँ! अभी ग्यारह-बारह मील हमें जाना है।'

बीबाँ अपने आँचल से अपने आपको हवा करती हुई, वहीं वृक्ष के नीचे घास पर बैठ गयी और नन्हें को दूध पिलाने लगी।

रहमाँ ने खाल के पानी से मुँह धोया और गीले हाथ फ़ज्जे के मुँह पर फेरे। और खाल पर पहुँच कर लहराँ ने जूते अपने बाप की ओर फेंक दिये और फिर फलांग कर इस ओर आ गयी, किन्तु पाँव उसका अब भी लंगड़ा रहा था।

मौलू ने मेख़ को देखा—उसकी पतली-सी नोक, जिसका जग घाव की नमी के कारण साफ़ हो गया था, किसी नव-वय के विद्रोही की भाँति सिर उठाये चमक रही थी। कहीं से ईंट का एक टुकड़ा ढूँढ़कर मौलू ने उस नोक को तोड़ दिया। उसे कुन्द कर दिया। फ़िर निरंतर चोटों से उसे बहुत ज़्यादा अंदर धकेल दिया और मुँह पर पानी के छींटे मारकर उसे तहमद के दामन की उलटी तरफ़ से पोंछता हुआ कुछ क्षण सुस्ताने के लिए अपनी पत्नी के पास आ बैठा।

'वैरोके तो बस पास ही है, इस आमों के बाग के पीछे। यहाँ से सुनते हैं अटारी दस मील है। तो मज़े से तीसरे पहर वहाँ जा पहुँचेंगे।'

और फिर ताँगेवाले की बात का ख़याल आ जाने से उसे हँसी आ गयी, 'साला अढ़ाई रुपये माँगता था। छै मील तो हम आ गये।'

'अढ़ाई रुपये' उसकी पत्नी ने कहा, 'जैसे हमारे यहाँ रुपयों के ख़ज़ाने हों। वहाँ जायेंगे तो क्या हसन खाँ के बच्चों के लिए कुछ न लेकर जायेंगे ?'

यह हसन ख़ाँ, जो अपने जीवन में २५ वर्ष तक गाँव में सिर्फ़, 'हस्सू' के नाम से पुकारा जाता रहा, लाहौर में ईश्वरसिंह सरकारी ठेकेदार का मेठ था। जब लोपोके की नहर बननी शुरू हुई, तो न जाने किस तरह—मौलू आज तक इस बात को नहीं समझ सका—हस्सू जाकर उसके मज़दूरों में शामिल हो गया। छः आने दैनिक मज़दूरी पर। फिर ठेकेदार ईश्वरसिंह ने ख़ुश होकर उसे पाँच रुपये महीने पर मेठ बना लिया, फिर आठ कर दिये और जब उस काम को ख़त्म करके ठेकेदार ईश्वरसिंह लाहौर चला गया तो अपने इस विश्वसनीय मेठ को भी साथ ले गया। उसी दिन से 'हस्सू' 'हसन ख़ाँ' बन गया था। गाँव में जब वह एक बार आया तो चौड़े पाँइचों की शलवार, बोस्की की कमीज़ और सिर पर ऐसा कुल्लेदार साफ़ा उसने पहन रखा था, जिसका तुर्रा एक फूल की भाँति खिला हुआ था। मौलू आश्चर्यान्वित रह गया था। वह समझ न पाया था कि किस तरह उसके इस छोटे भाई ने इतना ओहदा और इतना इल्म प्राप्त कर लिया है!

इस जामुन की छाया में बैठे-बैठे, अपनी तहमद की गाँठ खोलकर मौलू ने सब पैसे निकाले। अधिकांश पर मिट्टी और तेल की काली तह जम गयी थी और यद्यपि धरती से निकाल कर तहमद में बाँधने से पहले उसने उन्हें अच्छी तरह धो लिया था, तो भी तहमद का वह हिस्सा, जिसमें पैसे बाँधे गये थे, काला हो गया था।

यद्यपि घर से वह उन्हें गिन कर लाया था और यद्यपि चंद पैसों के

सिवा उनमें से कुछ अधिक ख़र्च न हुआ था, तो भी घास पर तहमद का एक पल्ला बिछाकर उसने उन्हें दोबारा गिना—चार रुपये और कुछ आने थे। और यह रक़म उसने बड़ी कठिनाई से पैसा-पैसा करके साल भर में जमा की थी, बल्कि यों कहना चाहिए कि दो साल में जमा की थी। ज्यों ही हस्सू का लड़का आठ वर्ष का हुआ और उसकी सगाई हुई, उन्हें इस बात की चिन्ता हो गयी थी कि उसका निकाह बस अब समीप ही है, इसलिए उन्हें कुछ-न-कुछ बचाना चाहिए और चूँकि हस्सू लाहौर चला गया था और उसने यह भी जता दिया था कि वह लड़के की शादी लाहौर ही में करेगा, इसलिए दो साल से वे इस विवाह में जाने के लिए कुछ-न-कुछ बचाने का प्रयास करते आ रहे थे और दो साल से ही बच्चे इस विवाह में शामिल होने के ख़याल से इस बात का ज़िक्र करके कि उन्हें वहाँ क्या-क्या खाने को और क्या-क्या उपहार-स्वरूप मिलेगा, ख़ुश हो रहे थे। किन्तु गत वर्ष मौलू केवल दो रुपये बचा पाया था और इस वर्ष महज दो रुपये और कुछ आने।

और इन दो वर्षों में उसने परिश्रम भी कम न किया था। जितनी सरसों वह प्राप्त कर सकता था, उसने प्राप्त की थी और जितना तेल इर्द-गिर्द के गाँवों में बेचा जा सकता था, उसने बेचा था। अपनी सप्लाई को बढ़ाने के लिए उसने सरसों में तोरिया मिलाने से भी संकोच न किया था और जब उसके ग्राहकों ने शिकायत की थी कि तेल बालों में ज़्यादा लगता है, तो उसने बड़े गर्व से कहा था कि ख़ालिस कच्ची घानी का जो हुआ, नहीं नख़ालिस तेल यदि लगाओ तो यह भी पता नहीं चलता कि बालों में कोई तेल लगा है या नहीं! फिर फ़सल के दिनों में उसने कटाई का काम भी किया था और पीर दौले शाह और क्रीम शाह की ख़ानकाहों पर लगने वाले मेलों में घड़ों और मटकों की

दुकानें भी लगायी थीं, लेकिन इस पर भी वह गत दो वर्ष में यही कुछ बचा पाया था। और बिना सालन की रूखी रोटी के सिवा उन्हें कभी कुछ प्राप्त न हुआ था। यह ठीक है कि इस विवाह के ख़याल से उसने अपनी बीवी और बेटियों को गबरून की एक-एक कमीज़ और दरेस की एक-एक सुथनी सिलवा दी थी, स्वयं भी एक तहमद और साफ़ा ख़रीदा था और फ़ज्जे को भी एक तहमद ले दी थी, लेकिन इन सबके लिए तो वह भीलो शाह का क़र्जदार था, जिससे उसने वादा किया था कि अगले वर्ष वह जितना तेल निकालेगा, उसकी दूकान में डाल देगा।

वहीं बैठे-बैठे मौलू ने हिसाब लगाना शुरू किया, 'यदि हम अटारी से जाकर चढ़ें तो चार आने तो मोटर का किराया लगेगा, इस तरह साढ़े चार टिकटों के .....'

'लेकिन साढ़े चार किस तरह ?' उसकी पत्नी ने बात काटकर कहा, 'फ़ज्जे का टिकट किस तरह लग सकता है, अभी कल का तो बच्चा है, तुम उसे ज़रा गोदी में उठा लेना !'

'ये मोटर वाले एक ही शैतान होते हैं,' मौलू ने कहना शुरू किया 'अगर माँगेंगे तो ? सुना है तीन साल से बड़े का टिकट लगता है।'

'हाँ लगता है !' बीबाँ बोली—'वे न माँगें तो भी तुम दे देना !'

'तो ख़ैर एक रुपया टिकटों का सही, फिर शहर का मामला है, हसन खाँ की वहाँ शान होगी, पैदल घिसटते हुए उसके यहाँ कैसे जाया जायगा ! पड़ौसी न कहेंगे—कैसे भिखमंगे रिश्तेदार हैं इसके। ताँगे तक पर नहीं आ सके।'—तीन-चार आने ताँगे पर भी ख़र्च करने पड़ेंगे।

बीबाँ को इस बात का विश्वास था और अपने बच्चों को भी उसने कई महीने पहले कह रखा था कि चचा के घर से उन्हें बहुत कुछ मिलेगा, इसलिए उसने कहा, 'एक रुपये की मिठाई हस्सू के बच्चों के

लिए ले जाना, जब वे हमारे बच्चों को इतना कुछ देंगे तो हम किस तरह ख़ाली हाथ जायेंगे ?''

'ख़ैर,' मौलू हिसाब लगाकर बोला—'सवा रुपया वापसी पर ख़र्च आयेगा तो बाक़ी बड़ी मुश्किल से बारह आने एक रुपया बचेगा।'

लहराँ ने अचानक कहा—मेरे पाँव में छेद हो गया है, जूता मेरा बिल्कुल घिस गया है, मुझे जूता ले देना।

रहमाँ बोली—मेरी चुनरी फट गयी है मुझे एक नयी चुनरी ले दो, चचा की लड़की के सामने क्या मैं यह फटी चुनरी पहनूँगी !

मौलू की कमीज़ का दामन पकड़ते हुए फज्जे ने कहा—अब्बा हमें बूट ले देना !

'चलो बैठो !' बीबाँ ने एक झिड़की दी, 'सात आठ दिन वहाँ रहना है ! तो क्या अपने पास एक कौड़ी भी न रखेंगे ! फिर लम्बा रास्ता, शरबत-पानी की भी ज़रूरत पड़ जाती है।'

'लोपोके' के मोड़ पर उन्हें एक ताँगा जाता हुआ मिला। लहराँ के जूते की मेख फिर बाहर निकल आयी थी, किन्तु उस घायल हृदय की भाँति जिसमें कुन्द-सा मज़ाक भी छेद कर देता है, वह कुण्ठित, मुड़ी हुई मेख़ लहराँ की घायल एड़ी को और भी घायल कर रही थी और वह लगँड़ा-लँगड़ा कर चल रही थी और काफ़ी पीछे रह गयी थी और फ़ज्जा भी चिल्लाने लगा था कि उसे उठा लिया जाय और धूप की शिद्दत से बीबाँ की गोद का बच्चा भी बेहाल होने लगा था।

मौलू ने बेहरवाही से ताँगे की ओर देखते और जैसे ईंट फेंकते हुए पूछा, 'क्यों भई ?'

'कहाँ जाना है ?' ताँगा चलाते हुए ताँगे वाले ने पूछा।

'अटारी !'

'पाँच पाँच आने !'

'पाँच-पाँच आने ?'

'तुम्हें क्या देना है ?'

लेकिन मौलू ने कुछ उत्तर न दिया। तहमद को फिर ऊपर खोंस, पगड़ी के शमले से गर्दन और मुँह का पसीना पोंछ गठड़ी के बोझ से धीरे-धीरे दबने वाली गर्दन को उठा कर वह चल पड़ा।

लहराँ और फ़ज्जे ने एक बार कहा—'अब्बा ताँगा......'

कड़ककर मौलू ने उन्हें चुप करा दिया। बीबां ने भी बच्चे को कंधे से लगाकर झुलाते हुए ओठों का गोला बना कर उसमें ज़बान हिलाते हुए ओ...लो...लो...करना आरम्भ कर दिया और जब इस पर भी बच्चा न माना तो कमीज़ का बटन खोलकर उसने अपनी छाती निकाल उसके मुँह में दे दी।

सड़क बिल्कुल कच्ची थी। सड़क तो उसे कहा भी न जा सकता था। किसी ज़माने में वहाँ जरूर सड़क रही होगी, किन्तु अब तो उसकी विशालता को देखकर उस पर किसी ऐसे दरिया का धोखा होता था, जिसके दोनों किनारे फैलते-फैलते आस-पास की ऊसर धरती में जा मिले हों— हाँ दोनों ओर पराँह के निरर्थक टेढ़े मेढ़े पेड़ उसके अस्तित्व की साक्षी देते थे—ऐसे पेड़ जिनके तने वर्षों के वर्षातप के कारण खोखले हो चुके थे; जो सड़क की सुन्दरता में वृद्धि करने की अपेक्षा उसकी कुरूपता ही बढ़ाते थे; जिनकी लकड़ी जलाने तक के काम न आती थी; जिनके पत्तों को बकरियाँ तक न खाती थीं और जिनकी शाखाओं पर बये तक का घोंसला न था—कहीं कहीं कोई बबूल का कांटेदार वृक्ष अपनी लम्बी-लम्बी शाखाओं को सड़क पर झुकाये हुए खड़ा था कि यदि गर्मी के ताप से जलता हुआ कोई व्यक्ति छाया में आने का प्रयास करे तो उसकी पगड़ी उतर जाय अथवा उसका चेहरा ज़ख़्मी हो जाय।

ईंट तो दूर, किसी कंकर तक का निशान वहाँ न मिलता था, इसलिए

किसी पेड़ के तने पर रखकर किसी ढेले से गाड़ने के बावजूद जब मेख़ बार-बार बाहर निकल आती थी और एड़ी का घाव बढ़ता जाता था और चलना उसके लिए प्रतिक्षण दूभर हुआ जा रहा था तो आख़िर तंग आकर लहरां ने जूते हाथ में उठा लिये। धूल धधकती हुई राख की भाँति जल रही थी और प्रायः जब गर्द में टख़नों तक पाँव धँस जाते तो सारे शरीर में जलन की एक लहर दौड़ जाती थी। किन्तु मेख़ की चुभन से टीस की जो लहर दौड़ती थी, वह शायद जलन की लहर से अधिक कष्ट-दायक थी, इसलिए वह चली जा रही थी, किन्तु इस पर भी वह सबसे पीछे थी।

और मौलू अब भी सबसे आगे था। इतनी आयु बीत गयी थी, वह कभी इस सड़क पर न आया था। यदि उसे मालूम होता कि यह सड़क इतनी ऊबड़-खाबड़, वीरान और छाया-रहित है तो वह कभी इस ओर मुँह न करता—विशेषकर उस समय जब उसके साथ बच्चे थे—उसके कोल्हू पर तो वट की घनी छाया थी और निकटवर्ती देहात में कभी-कभी तेल लेकर जाने अथवा मिट्टी के घड़े-मटके लेकर भीलोवाल या वैरोके तक आने के अतिरिक्त उसने कभी इस ओर का सफ़र न किया था। उसकी दुनिया बरगद के एक घने पेड़ की छाया में बसती थी, जहाँ तपती-जलती हवाएँ शीतल हो जाती थीं और गर्म धूप भी ठंडक पहुँचाती थी और कभी जब वह खुदा के सामने नत-मस्तक होता और कुरान की आयतों को अपने ग़लत उच्चारण से पढ़ता तो खुदा का जो अस्तित्व उसके सामने आता, वह कुछ इस बड़े घने वट के वृक्ष का-सा होता—बड़ी-बड़ी शाखाओं वाला, सायेदार, अगनित घोंसलों को अपनी शाखाओं में छिपाये हुए—लेकिन यह तपती वीरान दुनिया, हरियाली का एक तिनका भी नहीं और इस मरु में किसी जलते हुए तीर की तरह जलती-जलाती, तपती-तपाती यह

सड़क! यदि उसे मालूम होता तो कभी बच्चों को यों साथ न लाता—कभी न लाता!

किन्तु इस ख़याल को उसने तत्काल अपने दिल से निकाल दिया और वह फिर अकड़ कर चलने लगा। तहमद को झटका देने अथवा कमीज़ को झाड़ने का विचार उसे कब का भूल चुका था—कोई साइकिल सवार या भूला-भटका राही भी गुज़रता तो उन पर मट्टी की तह छा जाती और लू, जो कभी इधर से उधर और कभी उधर से इधर चलने लगती, शरीर में प्रवेश करके नसों तक को झुलसा रही थी और कभी कभार कोई बगूला मट्टी बरसाता हुआ निकल जाता था। तहमद का नीलाहट लिये सफ़ेद रंग अब मटिआला हो गया था। पगड़ी की वह दमक न रही थी और कपड़ों की उलटी तरफ़ से चेहरे या गर्दन का पसीना पोंछने के बदले अब वह सीधी तरफ़ को ही काम में लाये जा रहा था।

उसमें कुछ अन्तर पर उसकी पत्नी चली जा रही थी। उसके समस्त यत्न बच्चे को पुचकारने में लगे हुए थे, फिर रहमाँ थी—जिसे शायद उसके पड़ोसी ग्वाले नूरे का ख़याल इस चिलचलाती धूप की तपन को महसूस न होने देता था और शायद इस बरसती हुई आग में भी वह स्वप्न देखती चली जा रही थी—उसकी अंगुली थामे फ़ज्जा चल रहा था, जिसे कभी वह उठा लेती थी और कभी कमर, कंधा या बांह थक जाने पर फिर उतार देती थी—फूल-सा चेहरा उसका कुम्हला गया था, ओठ सूख गये थे; गन्दे मैले हाथों से बार-बार मुँह का पसीन पोंछने के कारण चेहरे पर उसके कई दाग़ लग गये थे और चाल उसकी उत्तरोत्तर धीमी होती जा रही थी।

और इन सब के पीछे पूर्ववत् कभी जूता पहनती और कभी उतारती हुई लहराँ लँगड़ाती-लँगड़ाती चली जा रही थी।

नहर से उतर कर मौलू ने देखा—दायीं ओर एक बरगद का घना

पेड़ है—मादा बरगद का। जिसका तना बहुत ऊँचा नहीं उठता, मोटी-मोटी लम्बी-लम्बी सिर को छूती हुई डालियाँ छतरी की भाँति फैलती चली जाती हैं—उसकी एक शाख पर दो मोर बैठे हैं, निश्चिंत और मस्त! उनके लम्बे-लम्बे चमकीले पंख धरती को छू रहे हैं और दूर किसी कुएँ की गाधी पर बैठा हुआ कोई जाट 'हीर वारिस शाह'* अलाप रहा है। उसकी सुरीली, बारीक, लेकिन ऊँची आवाज़ इस सूनी, वीरान, निस्तब्ध दुपहरी में गूँजती लहराती हुई, उस तक आ रही है।

'घर आ ननान ने गल्ल कीती, भाबो इक जोगी नवाँ आया नीं।
कन्नीं ओसदे दरशनी मुंद्रां ने, गले हैकला अजब सुहाया नीं!'†

अतीत के किसी दूरस्थ प्रदेश से आने वाली स्मृति की भाँति तरुण यौवन के वे दिन मौलू की आँखों के सामने घूम गये, जब वह अपने वट की शाखा पर बैठ कर अथवा किसी आम या जामुन के तने से पीठ लगाये हीर वारिस शाह गाया करता था और उसके जी में आया कि वह पूरे गले से तान लगाये।

'फिरे ढूंढदा विच्च हवेलियां दे, कोई ओस ने लाल गवाया नीं!
हीरे किसे रजवंस दा ओह पुत्तर, रूप तुद्ध थीं दून सवाया नीं।' ‡

किन्तु यह तान उसके हृदय ही में रह गयी। अपनी लम्बी दाढ़ी अपने शरीफ़ लिबास और अपने पीछे चले आने वाले बीवी-बच्चों का उसे खयाल आ गया और उसके हृदय से बरबस एक दीर्घ-निश्वास निकल गया।

---

*पंजाबी का अमर काव्य।

†घर आकर ननद ने कहा कि ऐ भाभी एक नया जोगी आया है। उसके कानों में दर्शनीय बालियाँ है और गले में हैकल शोभा दे रही है।

‡हवेलियों में वह ढूंढ़ता फिर रहा है जैसे कि उसने कोई लाल खो दिया हो। ऐ हीर, वह तो किसी राजे का बेटा दीखता है, उसका रूप तुझसे भी सवाया है।

तभी फ़ज्जे ने रोते हुए सूखे गले से कहा—'अब्बा मुझे प्यास लगी है, अब्बा मुझे उठा लो !"

और मौलू ने मुड़कर देखा—लहराँ बेचारी थककर पराँह की एक टेढ़ी सी जड़ पर बैठ गयी थी।

'मर गयी वहीं तू !' कड़ककर मौलू ने कहा।

लहराँ उठी और लँगड़ाती-लँगड़ाती चलने लगी। मौलू ने तब मुड़कर अपने बेटे को डांटा कि ज़रा दम ले, सामने 'चोगावां' नज़र आ रहा है। वहीं चलकर लस्सी-पानी पियेंगे।

और चोगावां तक वे दोनों किसी न-किसी-तरह चलते आये थे। लस्सी-पानी से अधिक उनके संतोष का कारण उनका यह ख़याल था कि अब्बा वहाँ से अवश्य ताँगा लेंगे। किन्तु जब कुछ सुस्ताने और सूखी रोटी को तेल के पकौड़ों के साथ (जो उनके अब्बा ने अड्डे से लिये थे) पानी की सहायता से, पेट में पहुँचाने के बाद, उन्हें फिर मार्च की आज्ञा मिली तो चल तो वे पड़े, लेकिन मार्च नहीं कर सके। चोगावां से 'वनीके' तक इस मार्च में कई हाल्टिंग स्टेशन आये जब कि वे किसी बीमार थके हुए घोड़े की भाँति अड़ अड़ गये और झिड़कियाँ गालियाँ या एक-दो चांटे खाकर फिर चल पड़े, किन्तु वनीके के मोड़ पर जो वे एक बार रुके तो फिर नहीं बढ़े। थप्पड़ खाने पर भी फ़ज्जा टस से मस न हुआ और गलियाँ खाकर भी लहराँ बैठी दुपट्टे से आँसू पोंछती रही।

ताँगे वाले से मौलू ने बिल्कुल ही न पूछा हो यह बात नहीं। पूछा था, किन्तु बिना सवार होने के ख़याल से और यह जानकर कि लोपोके से चोगावा तक वह गर्द का दरिया पार करने के बावजूद अभी तक किराये में मात्र एक आने की कमी हुई है और यह जानकर कि आगे सड़क पक्की है और कहीं-कहीं शीशम के वृक्ष भी हैं, वह चल पड़ा था।

जब थप्पड़ खाकर फ़ज्जा रोने लगा, लेकिन उठा नहीं तब

बीबाँ ने उसे प्यार से उठाना चाहा और नन्हें को रहमाँ के हवाले करके उसे गोद में ले लिया। मस्तक पर हाथ फेरते ही वह सहमकर पुकार उठी :

'देखो, तुम इसे पीट रहे हो, इसका पिंडा तो भट्टी बना हुआ है!'

और तब ज्वर के वेग से तपे हुए अपने लड़के के चेहरे को देख-कर मौलू पिघल उठा और उसने अनिच्छापूर्वक एक जाते हुए ताँगे को रोका और अटारी का किराया पूछा।

'चार-चार आने!' ताँगे वाले ने उत्तर दिया।

'चार-चार आने? लेकिन इतना तो चोगावा से माँगते थे!'

'तुम क्या देते हो?'

'एक-एक आना ले लो, तीन-साढ़े तीन मील हम चल भी तो आये हैं?'

ताँगे वाले का ताँगा तो भरा हुआ था, इसलिए उसे सवारियों की उतनी ज़्यादह परवाह न थी, 'तो वहीं से जाकर चढ़ जाओ,' उसने कहा और हंटर घुमाया।

'छै-छै पैसे ले लो।'

'ओ तेरी मां मर जाये!' हंटर घोड़े की पीठ पर पड़ा और वह चल पड़ा।

'दो आने।'

'अढ़ाई आने'—उसने अपने कंठ की पूरी आवाज़ के साथ कहा।

ताँगा काफ़ी दूर जाकर रुक गया। सवारियाँ तो पूरी थीं, किन्तु भागते भूत की लँगोटी ही सही, के अनुसार ताँगे वाले ने ये दस-बारह आने छोड़ने उचित न समझे।

रहमाँ से बच्चे को लेते हुए चिन्तातुर स्वर में बीबाँ ने जैसे अपने

आप से कहा—'इसका जिसम भी गर्म हो रहा है, अल्लाह ख़ैर करे !' और वह ताँगे की ओर बढ़ी।

यद्यपि जहाँ दो की जगह थी, वहाँ चार बैठे और सांस लेना तक मुश्किल हो गया, तो भी सब ने एक तरह से सुख की सांस ली।

जब पलक झपकते ही (कम से कम मौलू को ऐसा ही मालूम हुआ) अटारी का मोड़ आ गया और ताँगेवाले ने कहा कि—अगर जल्दी चढ़ना चाहते हो तो यहीं उतर जाओ, क्योंकि यहाँ से मोटर जल्दी मिलती है तो मौलू के दिल को धक्का लगा।

'अड्डा आ गया ?' उसने पूछा।

'अड्डा तो आगे है, लेकिन यहाँ से जल्दी मोटर मिल जायेगी। अड्डे पर बहुत देर बैठना पड़ेगा, वहाँ और लोग भी होते हैं और आजकल ट्रैफ़िक पोलीस भी बड़ी सख़्त हो गयी है।'

ट्रैफ़िक पोलीस क्या बला है ? यह बात तो मौलू की समझ में बिल्कुल नहीं आयी। उसने भ्रू-भंग करके ताँगेवाले की ओर देखते हुए कहा, 'यह चालाकियाँ मैं सब समझता हूँ।'

किन्तु जब ताँगे में बैठी हुई दो सवारियाँ वहीं उतर पड़ीं और जब दूसरों ने भी कहा कि अगर लारी जल्दी पकड़नी हो तो यहीं उतर पड़ो तो वह भी उतरा, किन्तु सड़क पर पाँव रखते ही वह गर्जा, 'बस यहीं तक लाने के बारह आने तुम माँगते हो !'

ताँगेवाले ने बेपरवाही से कहा, 'तुम्हारी मर्ज़ी है, तुम अड्डे तक चले चलो !'

मौलू का जी चाह रहा था इस पाजी ताँगेवाले को उतारकर सड़क पर पटक दे। उसने चीख़कर कहा, 'तुम लुटेरे हो !'

ताँगेवाले ने हंटर उठाया, 'ज़बान सम्हालकर बात करो मियाँ !'

तभी बीबाँ ताँगे से उतरकर दोनों के मध्य आ खड़ी हुई—'तैश में

न आओ भाई, हम पैसे मारकर न ले जायँगे, आदमी आदमी तो देख लिया करो तुम '!

मौलू कोई बड़ी अश्लील गाली देने लगा था, पर यह सुनकर गाली देने के बदले उसने वही काले-स्याह, अड़तालीस पैसे, ताँगे वाले के हाथ पर गिन दिये और शहीदी भाव से बच्चों को उतारने लगा।

'बारह आने तो इसे दे दिये, अब वहाँ किस तरह काम चलेगा'— जाते हुए ताँगे की ओर देखते देखते बीबाँ ने जैसे अपने आप से कहा।

मौलू चीखकर कुछ कहने ही लगा था कि उसकी दृष्टि अपने नन्हे बच्चे की ओर चली गयी, जिसका स्याह चेहरा ज्वर के वेग से और भी स्याह हो रहा था। उसने उसके माथे पर हाथ रखा, कुर्ती उठाकर पेट को देखा, 'जिसम तो इसका भी जल रहा है।' उसने कहा और फिर एक आती हुई मोटर से बचाने के लिए अपने बीवी-बच्चों को एक तरफ़ करके वह उन्हें किनारे पर लगे हुए शीशम के साये में ले चला।

'अरे मौलू तुम किधर ?' आश्चर्य से वृक्ष के नीचे बैठे हुए एक व्यक्ति ने पूछा।

'अरे भाई, हसन के लड़के की शादी में लाहौर जा रहा था', मौलू ने निराशा भरी आवाज़ में कहना शुरू किया। 'रास्ते में लड़कों को बुख़ार ने आ दबाया।'

'कहाँ जा रहे हो वहाँ लाहौर में ?'

'मुज़ंग में हसन रहता है, वहीं जाना होगा। न हुआ भाई ताँगा कर लेंगे, तीन-चार आनों की बात है, सो दे देंगे !'

'तीन-चार आने !' वह हँसा, 'तुम लाहौर कभी गये नहीं, एक रुपये से कम में वहाँ ताँगा न जायगा।'

मौलू ने बड़ी निराश दृष्टि से अपनी पत्नी की ओर देखा, जो शायद कह रही थी कि एक रुपये की मिठाई हसन के बच्चों के लिए भी लेनी है और फिर वापस आने के लिए भी पैसे चाहिएँ और बीबाँ की

निगाहें शायद कह रही थीं कि मुए ताँगेवाले ने योंही हमारे बारह आने ठग लिये।

'तुम किधर आये थे नवाब ?' मौलू ने पूछा।

'भीलो शाह की बोरियाँ स्टेशन पर छोड़ कर आ रहा हूँ !'

'तो अब वापस जा रहे हो ?'

'चला ही जा रहा हूँ, योंही ज़रा दम लेने के लिए रुक गया था !'

तब फिर मौलू ने बीबाँ की ओर और बीबाँ ने मौलू की ओर देखा और मौलू ने कहा, 'क्या कहूं यार, बच्चों को बुख़ार ने आ दबाया है, हस्सू ने तो बहुतेरा लिखा था कि बीवी-बच्चों के साथ आना, लेकिन यहाँ तक आते-आते बच्चे बीमार हो गये, लहराँ का पाँव जख़्मी हो गया है और फ़ज्जे और चिराग़ का पिंडा गर्म तवा बना हुआ है, सोचता हूँ, वहाँ कहीं तकलीफ़ बढ़ न जाय। शादी का मामला है, खाने-पीने में परहेज़ रहता नहीं और फिर वहाँ वह बात थोड़े ही है जो अपने घर में है। डाक्टर......

'ये डाक्टर साले तो अच्छे भले को बीमार कर देते हैं।' नवाब ने कहा।

'अरे बाबा उन तक हमारी पहुँच कहाँ ?' और फिर एक बार पत्नी की ओर देखकर उसने नवाब से कहा, 'तुम एक मेहरबानी करो नवाब, इन सबको वापस ले जाओ। मुझे तो जाना ही होगा, कल बरात चढ़ेगी !' और फिर उसके उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना उसने बीवी-बच्चों को बैलगाड़ी पर चढ़ने का आदेश दिया।

नवाब गाड़ी पर आ बैठा।

रास्ते में भीलोवाल के निरंजनदास हकीम से कुछ दारू लेती जाना', उसने गाड़ी के पीछे चलते हुए अपनी पत्नी से कहा।

तभी दूर सड़क पर अमृतसर की ओर से एक लारी आती हुई दिखायी दी।

मौलू ने जल्दी-जल्दी अपने बच्चों का प्यार लिया।

फ़ज्जे के जलते हुए मस्तक को चूमा—'हम तुम्हारे लिए बूट लायेंगे!'

लहराँ के सिर पर हाथ फेरा, 'तुम्हारे लिए जूता लायेंगे!'

रहमां को डांटा कि बच्चों का ख़याल रखना और मां से लड़ना नहीं।

फिर वह गठड़ी उठाये भागता हुआ-सा सड़क पर आ खड़ा हुआ और उसने आती हुई लारी को रोकने के लिए हाथ बढ़ा दिया।

अड्डी चुक्क भूतना

मैं चौथी श्रेणी ही में था, जब मेरे कानों को 'अड्डी चुक्क भूतना' का परिचय मिला।

गर्मियों की दोपहर थी। पिछले कमरे में भाई साहब कश्मीरी लाल से गणित पढ़ रहे थे। (वे भाई साहब से दो श्रेणी आगे पढ़ते थे और पिता जी के अनुरोध पर भाई साहब को परीक्षा की वैतरणी पार कराने आ जाते थे।) मैं दरवाज़े के पास ही, बाहर दालान में बैठा उनकी इतिहास की पुस्तक देख रहा था। तभी सहसा कश्मीरी लाल की मीठी डाँट मेरे कानों में पड़ी :

"गणित में मेहनत न करोगे तो 'भूतना' मुर्ग़ा बनाकर होश ठिकाने कर देगा।"

इसके बाद जब दो तीन बार यही शब्द 'भूतना' मेरे कानों में पड़ा तो मेरा ध्यान इतिहास से हटकर उधर जा लगा था।

भाई साहब ने कदाचित् कुछ जिज्ञासा प्रकट की थी और उत्तर में कश्मीरी लाल 'भूतना' के सम्बन्ध में उनकी ज्ञानवृद्धि कर रहे थे।

"एक बार अंग्रेज़ी का पीरियड ख़ाली था," कश्मीरी लाल कह रहे थे, "मास्टर आया न था। लड़के शोर मचा रहे थे कि इतने में क्लास में 'भूतना' घुस आया। एक सिरे से दूसरे सिरे तक बेंचों के किनारों पर बैठे हुए लड़कों की पीठ पर ज़ोर से एक-एक मुक्का मारता चला गया। लड़के तो उसकी शक्ल देखकर ही सहम गये थे, किन्तु आक्रमणार्थ भागते हुए सुअर की भाँति, दोनों ओर की बेंचों के किनारे बैठे हुए लड़कों की पीठ दोहरी कर, कमरे का एक चक्कर-सा लगा, हल्ले का ज़ोर ख़त्म होने पर ही भूतना कुर्सी पर बैठा। बैठते ही उसने मानीटर से पूछा, 'दस्स ता बदा काह्दी घंटी ए।'‡ मानीटर ने बताया कि अंग्रेज़ी का पीरियड है। तब अंग्रेज़ी की पुस्तक मानीटर से लेकर उसने उसे खोला और लड़कों से बोला—'भूतनी देयो पुत्तरो कढ्डो ते कापिया'†

"हमने अपनी कापियां निकाल लीं और भूतने ने डिक्टेशन (Dictation) बोलनी शुरू की। बैठे-बैठे उसे शायद वहशत होने लगी थी। फिर उठ कर कमरे में घूमने लगा और डिक्टेशन लिखाते-लिखाते लड़कों की लिखाई का निरीक्षण भी करने लगा।

"मैं बड़ी तन्मयता से लिख रहा था कि सहसा लगा जैसे कनपटी से कान उखड़ गया हो। साथ ही ज़ोर से पीठ पर एक घूँसा पड़ा।

'भूतनी देया पुत्तरा, जे तेरा सिर कट्ट के इस पासे रख लिया जावे "ते धड़ उस पासे, ते अच्छा लगेगा ?'* भूतना गर्जा।"

कश्मीरी लाल मुस्कराये और बोले—"दुर्भाग्य से मैंने लाइन ख़त्म

---

‡बता रे बद किस विषय की घंटी है ?

†भुतनी के बच्चो निकालो तो कापियां !

*भुतनी के बच्चे यदि तेरा सिर काट कर एक ओर रख लिया जाय और तन दूसरी ओर तो क्या अच्छा लगेगा।

होने के कारण एक शब्द को आधा एक ओर और आधा दूसरी ओर लिख दिया था।

अभी मैं अपनी पीठ सहला ही रहा था कि एक दूसरे लड़के की पीठ पर एक और धमाका हुआ।

'भूतनी देया पुत्तरा, जे तेरा सिर ऐड्डा वड्डा होवे ते जिस्म ऐन्ना कु जेहा ते चंगा दिस्सेगा ?'* भूतना कह रहा था। अपनी झल्लाहट में उसने कापी उठाकर क्लास को दिखायी कि किस प्रकार उस मूर्ख लड़के ने 'एफ़' का ऊपर का हिस्सा मोटा और शेष पतला बना दिया था।

लड़कों की किस्मत अच्छी थी कि अंग्रेज़ी के अध्यापक आ गये, नहीं जाने किस-किस का भुरकस बनता।"

परन्तु 'भूतना' अंग्रेज़ी के नहीं गणित टीचर थे। आठवीं श्रेणी को पढ़ाते थे और उनका असली नाम रामचन्द था। प्रायः ऐसा होता है कि बचपन की बातें, नाम और शक्लें भूल जाती हैं, पर कुछ बातें, नाम और कुछ शक्लें ऐसी भी होती हैं जो सदा-सदा के लिए मानस-पट पर अंकित हो जाती हैं। बचपन की एक तुकबन्दी जिसमें लड़कों ने सभी मास्टरों के नाम गिन रखे थे, मुझे आज भी याद है :

घंटी वज्जी टन टन
विच्चों निकलिया 'मेहर चन्न'
'मेहर चन्न' ने खादा दाना
विच्चों निकलिया 'मूला काना'
'मूले काने' रिद्धी दाल

*भुतनी के बच्चे यदि तेरा सिर इतना बड़ा हो और तन इतना ज़रा-सा तो क्या अच्छा लगेगा ?

विचों निकलिया 'नन्द लाल'
'नन्द लाल' फैलाया हाथ
विचों निकलिया 'बशेशरनाथ'
'बशेशरनाथ' ने खोलिया बुक्क
विचों निकलिया 'अड्डी चुक्क'*

इस तुकबन्दी के साथ-साथ न केवल अध्यापकों की शक्लें, बल्कि उनके गुण-दोष भी सामने आ जाते हैं—मेहरचन्द (चन्द पंजाबी में चन्न भी हो जाता है) जो हमारे प्रिंसिपल थे, लड़कों के प्रति जिनकी क्रूरता और दानियों से दान लेने की क्षमता बड़ी प्रसिद्ध थी; मूलचन्द, जो पाचवीं में हमें गणित और उर्दू पढ़ाते थे, आँखों से जिन्हें कम दिखायी देता था, कापी हो या स्लेट, बायीं आँख के सर्वथा निकट ले जाकर देखते थे और दायें हाथ से थप्पड़ रसीद करते समय बायां सदा दूसरे गाल पर रख लेते थे कि लड़का मुँह न फेर ले और थप्पड़ के पूरे आनन्द से वंचित न रह जाय! नन्दलाल जो छठी में अंग्रेजी पढ़ाते थे, गोरे चिट्टे, छरहरे, मँझले, बड़ी-बड़ी 'वालरस' की तरह ऊपर के ओठ पर छायी हुई मूँछें; कुर्सी पर बैठे-बैठे खंखारा

* घंटी बजी टन-टन
बीच से निकला मेहर चन्न
मेहर चन्न ने खाया दाना
बीच से निकला मूला काना
मूले काने पकायी दाल
बीच से निकला नन्द लाल
नन्द लाल फैलाया हाथ
बीच से निकला बशेशरनाथ
बशेशरनाथ ने खोलिया बुक्क (अंजली)
बीच से निकला अड्डी चुक्क

करते थे और बलग़म थूकने की बजाय मुँह में पपोलते रहते थे, बशेशर-नाथ, जो मंझले क़द के गठे हुए भारी भरकम आदमी थे, सीधा रूल मारने के बदले मुट्ठी में रूल का ऊपरी सिरा पकड़ कर निचले सिरे से पीठ पर ठहोके दिया करते थे, कभी-कभी दोनों उँगलियों के मध्य पेंसिल रखकर उँगलियाँ दबाते थे, अथवा चाभी कनपटी के पीछे रख कर उसके छेद में गर्दन का माँस लेकर ऐसे मरोड़ते थे कि बरबस चीख़ निकल जाती थी और 'अड्डी चुक्क'......पर उनकी बात तो मैं कहने ही जा रहा हूँ।

मैं जिस स्कूल में पढ़ता था उसकी दो शाखाएँ थीं। अब तो जाने चार छः हों, पर तब दो ही थीं! एक क़िला मोहल्ला में और दूसरी वहाँ से डेढ़ मील के अन्तर पर पुलिस लाइंज के सामने। पहली में चौथी तक पढ़ाई होती थी और दूसरी में पांचवीं से दसवीं तक। पहली में छात्र टाट पर बैठते थे और दूसरी में बेंचों पर। टाट से उठ कर बेंचों पर बैठना क्लर्की छोड़ डिप्टी कलक्टरी पाने के बराबर था। मुझे अपना चौथी कक्षा पास करके पहली बार बड़े स्कूल में जाना आज तक याद है। क्या उल्लास और क्या खुशी थी। बेंचों को ऐसे देखते थे और उन पर ऐसे हाथ फेरते थे जैसे वे मख़मल की बनी हों। बैठे तो ऐसा लगा जैसे कि राजसिंहासन पर आ बैठे हों। क़िला मोहल्ला के खुरदरे टाटों के मुकाबले में लकड़ी की लम्बी-लम्बी, गहरे नीले रंग-वाली डेस्कें, जिनमें तीन-तीन छात्रों के बैठने, किताबें रखने और थक जाने पर पीठ लगाकर बैठने का प्रबंध था; क़िला मोहल्ला के सील भरे छोटे, अँधेरे टपकते हुए कमरों के मुकाबले में, बड़े-बड़े खुले हवादार कमरे! मानों हम नरक से उठकर स्वर्ग में आ गये थे।

परन्तु इस सारे उल्लास और खुशी में एक विचित्र से औत्सुक्य

मिले भय का भी अंश था। मुझे 'भूतना' को देखने की बड़ी-साध थी। जब हर्ष का प्रथम आवेग ख़त्म हुआ तो मैंने आधी छुट्टी में भाई साहब को जा ढूँढ़ा और उनसे 'भूतना' को दिखा देने का अनुरोध किया। भाई साहब उस समय सातवीं श्रेणी में पढ़ते थे। भूतना से वे भी डरते थे। पर बड़े स्कूल में जाकर 'भूतना' को देखना इन्द्र के दरबार में काले देव को देखने से कम न था। भाई साहब मेरे आग्रह को देखकर मुझे उस बरामदे के सामने ले गये जहाँ एक बड़ी-सी मेज़ और कुर्सियां पड़ी थीं और आधी छुट्टी अथवा ख़ाली घंटों में अध्यापक लोग बैठते थे। भाई साहब ने दूर ही से क्षण भर उस ओर देखा और बोले, 'यहाँ नहीं, जाने कहाँ है, फिर दिखायेंगे।' पर मैं 'भूतना' के बारे में इतनी बातें उस समय तक सुन चुका था कि उनको देखने की बड़ी आरज़ू थी। तभी जब हम निराश हो वापस मुड़ने वाले थे, दायीं ओर से एक अध्यापक कुछ विचित्र ढंग से उचकता हुआ सा, जैसे अपने आप बदबदाता आया और कुर्सी में धँस गया। भाई साहब ने संकेत किया कि यही 'भूतना' है!

साधारणतः, आधी छुट्टी की घंटी बजते ही, अध्यापक के कुर्सी छोड़ने से पहले लड़के क्लास छोड़ देते हैं और शोर मचाते, हँसते-हँसाते अध्यापक से भी आगे कमरे से निकलते हैं। पर 'भूतना' के अपनी जगह जाकर कुर्सी पर बैठ जाने के बाद ही लड़के क्लास से निकले और उनका चांचल्य उस समय तक नहीं उभरा जब तक कि वे उनके पास से होकर, बरामदे की सीढ़ियां उतर, मैदान में नहीं आ गये।

भाई साहब मुझे वहीं छोड़ अपने साथियों में खेलने भाग गये, पर मैं चुपचाप वहीं कुछ क्षण 'भूतना' के दर्शन करता रहा—मँझला क़द; उड़ते हुए बगुले की-सी कुछ विचित्र प्रकार से आगे को बढ़ी हुई गर्दन; उसी कारण ज़रा-सा कूबड़; चौड़े चकले जबड़े; ज़रा सा लटकता हुआ निचला ओंठ; ऊपर सामने के दाँतों में काफ़ी अन्तर; कठोर आकृति—

मुझे विश्वास है कि यदि ढीली-ढाली पगड़ी के स्थान पर उनके सिर पर दो सींग होते तो वे किसी देव से कम भयानक दिखायी न देते। काला देव मैं इसलिए नहीं कहता कि उनका रंग गोरा था, बल्कि जब वे क्रोध में होते तो लाल चुकन्दर हो उठता था।

उनकी इसी उचकती चाल के कारण शायद छात्रों ने, 'भूतना' के साथ उन्हें 'अड्डी चुक्क' अर्थात् एड़ी उठाकर चलने वाले की उपाधि दे दी थी। बहुत से लड़के तो उनके असली नाम रामचंद से परिचित भी न थे। 'भूतना' को स्कूल का एक-एक छात्र जानता था।

मैंने यह देखा है कि आदमी जिस चीज़ से डरता है, वही उसके सामने आती है। मुहल्ले में एक-न-एक व्यक्ति यक्ष्मा से मरता रहता था, पर जब मैंने कश्मीरी लाल अश्क को इस भयानक रोग का शिकार बनते देखा और फिर मेरी भाभी और उनके बाद मेरी पहली पत्नी इस रोग का शिकार हुई तो मेरे दिल में यक्ष्मा का आतंक बैठ गया। मौत से मैं डरता नहीं, एकदम आ जाय तो मैं उसे पसंद करता हूँ, पर तिल-तिल मरना, दूसरों को और अपने आपको असहनीय परिस्थिति में देखना, मुझे पसंद नहीं। अपनी पत्नी की मृत्यु के बाद मैं भरसक सेहत के उसूलों का ख़याल करने लगा—प्रातः उठना, सुबह शाम सैर को जाना; व्यायाम करना और गरिष्ठ पदार्थों से आमाशय को बचाना—एक बार जब मुझे शूल रोग हुआ तो मैं हफ़्तों उबली हुई सब्जियाँ खाता रहा—पर उस व्यक्ति की तरह जो होनहार से बचने के लिए भागा था और सीधा उसकी भुजाओं में जा गिरा था, मैं भी यक्ष्मा से बचने की सतर्कता द्वारा ही यक्ष्मा के पंजों में जा फंसा।

'भूतना' सम्बन्धी मेरे डर का भी यही हुआ। उनसे डरने के प्रयास में एक वर्ष के बदले मैं दो वर्ष उनके चंगुल में फँसा रहा।

बात यह थी कि मेरा स्वास्थ्य बचपन से ख़राब था। सातवीं श्रेणी ही में तीन महीने मैं बीमार रहा था। क्षीण-काय और दुर्बल! भूतना की मार सहनी तो दूर, उनकी सूरत तक से मैं संत्रस्त था। लेकिन आठवीं तक पहुँचते-पहुँचते भाई साहब के कारण मैं भूतना के स्वभाव की हर गति-विधि से परिचित हो गया था और उनकी मार से बचने के सभी गुर मुझे पहले से ही याद हो गये थे। मैं 'भूतना' से बहुत नहीं पिटा, लेकिन इसी प्रयास में, आज मेरा ऐसा ख़याल है, मैं दो वर्ष आठवीं में रहा।

पढ़ने पर यह बात कदाचित् उतनी भयप्रद न लगे—विशेषकर उस सूरत में जब उनसे पिटने की अधिक नौबत नहीं आयी—लेकिन वास्तव में स्थिति उतनी सरल न थी। मेरी दशा उस व्यक्ति की-सी थी जो जंगल में सीधे मार्ग पर चलते-चलते अंधे बाघ के सामने पड़ जाय और उससे बचने के प्रयास में न केवल उसके बाल सफ़ेद हो जायँ, वरन् उसे जंगल को पार करने में अधिक समय लग जाय। आठवीं के वे दो वर्ष मेरे सारे जीवन पर स्पष्ट प्रभाव छोड़ गये हैं।

'भूतना' जब क्रोध में आते थे तो जो छात्र पहले सामने पड़ जाय, उसी पर अपना सारा गुस्सा निकाल देते थे। अंजाम प्रायः यह होता था कि अयोग्य लड़कों के बदले योग्य लड़के ही उनसे अधिक पिटते थे। मैं उनके घंटों में पिछली बैंचों पर बैठता था और दो वर्षों में मुझे एक भी ऐसा दिन याद नहीं, जब वहाँ तक वे पहुँचे हों।

प्रायः दर्जे में आते ही, जब उन्हें कोई नयी विधि न सिखानी होती तो वे मानीटर से सवाल लिखाने को कहते। वह उनके आदेशानुसार गणित की पुस्तक का परिच्छेद निकाल कर प्रश्न लिखाता। प्रायः मानीटर अथवा कोई दूसरा योग्य छात्र पहले सवाल निकाल कर उन्हें दिखाने ले जाता। प्रायः योग्य लड़कों के जवाब ठीक होते, लेकिन यदि

किसी का कभी ग़लत होना तो उसी की टुकस शुरू हो जाती और शेष घंटी उसी पर ख़त्म हो जाती।

जब सब लड़के सवाल कर चुकते तो 'भूतना' मानीटर को सब की कापियाँ देखने का आदेश देते। वह लड़कों की कापियों पर ग़लत अथवा ठीक के चिन्ह लगा देता। तब वे जुनूनियों की तरह कुर्सी पर से उठते हुए कहते—'हो जाण तां बैंचा ते खड़े भारत दे सितारे!'

भारत के सितारों से उनका अभिप्राय उन लड़कों से था जिनके जवाब ग़लत होते।

'भारत के सितारे' बैंचो पर खड़े हो जाते! भूतना निकटतम लड़के को आ दबोचते और उसकी मरम्मत आरंभ कर देते। उनको निकट आते देखकर लड़के के चेहरे पर जो हवाइयाँ उड़तीं और शिकार को निकट पा कर भूतना की आँखों में जो अमानुषिक चमक आ जाती, उनका मुख जैसे तमतमा जाता और जैसे वे दाँत किचकिचाने लगते, उसकी स्मृति आज भी रोंगटे खड़े कर देती है।

पीटते समय भूतना बेइख़्तयार हो जाते। अपने आप पर उनका कोई अधिकार न रहता। एक बार अपने शिकार को पीट कर वे दोनों ओर की बैंचों की बीच की जगह में चक्कर लगाते। बैंचों पर खड़े छात्रों के दिल धड़क जाते कि अब उनकी बारी आयी, पर किसी दूसरे को कुछ कहे बिना वे बकते-झकते, एक चक्कर लगाकर फिर उसी छात्र के सिर पर जा सवार होते और उसे पीटने लगते। बोलते-बकते उनके मुँह से झाग निकलने लगती और कई बार, अंत में पीटते-पीटते थक कर वे एक दोहत्थड़ अपने सिर पर भी मार लेते।

अपने बड़े भाई के और अपने अनुभव से मैंने जाना था कि जो प्रश्न वे सेक्शन 'ए' में एक दिन पहले करवाते, वही वे

---

*भारत के सितारे बैंचों पर खड़े हो जायँ!

हमारे सेक्शन में दूसरे दिन लिखाते। सेक्शन 'ए' सबसे अच्छे लड़कों का सेक्शन था। उस सेक्शन का सर्वश्रेष्ठ छात्र प्राणनाथ हमारे ही मुहल्ले में रहता था। मै गणित में आरम्भ से ही कमज़ोर था। पिताजी ने मुझे घर पर कुछ पढ़ा कर पहले-पहल तीसरे दर्जे में दाख़िल करा दिया था। तब हिन्दी, अंग्रेज़ी, उर्दू आदि में मैं बहुत अच्छा था, पर गणित में बहुत कमज़ोर था। पिता जी ने मुझे एक ट्युशन रख दी थी। उस ट्युशन की बदौलत यद्यपि मै पास होता गया, पर गणित मुझे बिल्कुल न आया। आता भी कैसे ? ट्युटर महोदय स्वयं तीसरी चौथी को गणित पढ़ाते थे, मुझे पास-फेल करना उनके बस ही में न था, सो पढ़ाने के बदले चिलम भरवाते अथवा बाज़ार से सौदा-मुल्फ़ आदि मँगवाते। सवाल लिखा कर हुक्का गुड़गुड़ाने लगते और हुक्का पीते-पीते ऊँघ जाते। गणित की मेरी यह कमज़ोरी आठवें दर्जे तक बराबर चली आयी। यह जानकर कि जो प्रश्न 'भूतना' हमें कराते हैं, वह एक दिन पहले 'ए' सेक्शन में करा आते हैं, मैं यह करता कि साँझ को घर आकर सबसे पहले प्राणनाथ के यहाँ जाता और उसकी गणित की कापी देखकर जो एक-दो सवाल 'भूतना' ने उस दिन कराये होते, उन्हें बड़े सुन्दर अक्षरों में नकल कर लाता।

बात तो विचित्र लगती है पर 'भूतना' को सफ़ाई और खुश-ख़त्ती की सनक थी। जिस प्रश्न का उत्तर सुन्दर ढंग से लिखा गया होता, उस पर वे 'गुड्ड' (अच्छा) देते, और तिमाही और छै-माही परीक्षाओं में इन 'गुड्ज़' का भी असर पड़ता।

मैं सबसे पिछली बैंच पर कोने में, जहाँ अनायास 'भूतना' की दृष्टि न पड़े, बैठा करता था। जब 'भूतना' सवाल लिखाते अथवा उनके आदेश पर मानीटर सवाल लिखाता तो प्रकट मैं सिर झुकाये बड़ी तन्मयता से सवाल किया करता, पर सवाल तो प्रायः मैं घर ही से करके ले आता। कुछ देर सवाल हल करने का बहाना करके मैं कापी ले

जाता। सवाल लिखाने के बाद 'भूतना' प्रायः कुर्सी पर पीछे को झुके, मुँह बाये ऊँघने लगते। जाग कर वे प्रश्न देखने और बड़ा सा 'गुड' लिख देते। यद्यपि मैं गणित में सबसे कमज़ोर था, पर इस प्रकार मेरी कापी में सबसे ज्यादा 'गुड्ज़' थे। मेरा यह भाँडा फूट न जाय, इसके लिए मुझे सतत सतर्क रहना पड़ता। जब कोई प्रश्न बिल्कुल नया होता अर्थात् पहले दिन 'ए' सेक्शन में कराया गया न होता तो मैं लघुशंका, दीर्घशंका, पेट अथवा सिर दर्द का बहाना करके चला जाता और फिर संकट की सम्भावना टलने पर ही आता।

मुझे याद है जब मैं आठवीं में था तब जालंधर में पहली बार सरकस आया था। स्कूल से कुछ ही दूरी पर मैदान था, वहाँ उसने डेरे डाले थे। मैं 'भूतना' की मार से बचने के लिए बहाना करके निकलता तो सीधा सरकस के मैदान में जाकर शेर, हाथियों और बन्दरों को देखा करता। सरकस शाम को होता, दोपहर में कई बार एक्टर अभ्यास कर रहे होते। धरती से कुछ ही ऊपर रस्सा बाँध कर उस्ताद लोग युवा शागिर्दों को उस पर चलना अथवा क़लाबाज़ियाँ लगाना सिखा रहे होते। मैं 'भूतना' और उनके गणित को भूलकर तन्मयता से वह सब देखा करता और जब वापस आता तो कई बार दूसरे टीचर की घंटा भी ख़त्म हो चुकी होती।

एक दिन जब मैं पशु-अनुसंधान और सरकस-दर्शन के अपने उस मिशन से लौटा तो 'भूतना' ने दूसरी क्लास से एक छात्र को मुझे बुलाने भेजा।

मेरी तो मानो जान निकल गयी। सीता के कष्ट को हरने के लिए धरती फट गयी थी, परन्तु मुझे याद है, यद्यपि मैंने भी उस समय कुछ ऐसी ही अभिलाषा की थी, पर फटना तो दूर रहा, वह पैरों के नीचे और भी सख़्त लगी थी, लेकिन, मुश्किल कितनी भी पड़े, मेरी सोच

की शक्ति कभी जवाब नहीं देती। इतिहास की घंटी थी। इतिहास की घंटी में मैं आगे बैठता था। अध्यापक मुझसे प्रसन्न थे। उन्होंने पानीपत के पहले युद्ध के सम्बन्ध में प्रश्न लिखाया था। निमिष भर में मैंने तय कर लिया कि क्या करना चाहिए। मैंने कहा कि अभी प्रश्न करके आता हूँ। अध्यापक ने उस छात्र से कहा कि सवाल कर ले तो भेजता हूँ। यद्यपि मैं सवाल लगभग कर चुका था, फिर भी जितना अधिक से अधिक समय उसमें लगा सकता था मैंने लगाया और उसे समाप्त कर जब 'भूतना' की क्लास में पहुँचा तो घंटी प्रायः ख़त्म होने वाली थी।

'पहुँचा' कहने में त्वरा का जो आभास मिलता है, वह मेरे जाने में बिल्कुल न था। मैं तो रेंगता हुआ-सा वहाँ गया। दरवाजे में दाख़िल हुआ तो 'भूतना' ब्लैक बोर्ड पर कोई प्रश्न समझा रहे थे। मैं चुपचाप कुछ क्षण तक खड़ा रहा। 'क्या आज्ञा है' कोई इसी प्रकार का वाक्य मुँह से न निकला। ब्लैक बोर्ड से दृष्टि हटाकर जब उन्होंने मुझे देखा तो लपक कर एक ही कदम में उन्होंने मुझे गर्दन से आ दबोचा और जैसे छिपकली किसी बड़े-से पतंगे को दबोच कर, सिर को ज़ोर से हिलाकर, झँझोड़ा देती है, 'भूतना' ने हाथ से मेरी गर्दन को झँझोड़ा और दाँत पीसते हुए कहा—'दस्स तां बदा तूं किथ्थे गया सैं।'†

सहमे हुए स्वर में मैंने बताया कि मेरे पेट में दर्द था, इसलिए मैं ज़रा बाहर गया था।

झल्लाकार और ज़ोर का एक मुक्का मेरी पीठ पर देकर भूतना ने कहा—'तैनूं पेट दर्द मेरे ई पीरियड विच्च हुंदी ऐ। फड़ तां भूतनियाँ ज़रा कन्न।'*

और मैंने एक ओर होकर कान पकड़ लिये। यह कान पकड़ना कितनी

---

†बता रे बद तू कहाँ गया था।

*तुझे पेट दर्द मेरी ही घंटी में होता है। पकड़ ओ भुतने ज़रा कान।

बड़ी सजा है, इसे अधिकांश पाठक नहीं जानते। इस कान पकड़ने को सभ्य भाषा में 'मुर्गा बनाना' भी कहते हैं। धरती पर उकड़ूँ बैठ कर दोनों हाथ घुटनों के नीचे से गुजार कर कानों को पकड़ा जाता है। उस दशा में पिछला भाग अनायास उठ जाता है। 'भूतना' उसके निरन्तर उठे रहने पर ज़ोर देते थे। छात्र ने थक कर उसे ज़रा नीचे किया कि वे ज़ोर का एक घूँसा उसकी पीठ पर देते थे। उस प्रकार दो तीन मिनट से ज़्यादा बड़े से बड़ा मजबूत लड़का भी कान न पकड़ सकता था। मुझे कई ऐसे लड़कों की शक्लें याद हैं, जिन्होंने इस प्रकार कान पकड़ रखे थे कि उनके मुख, नसों के तन जाने से, लाल हो गये थे और पीड़ा से जिनके गालों पर अनायास आँसू बह रहे थे, पर जो कान छोड़ने अथवा अपना पिछला भाग नीचा करने का साहस न कर पाते थे।

मैंने कभी कान न पकड़े थे। नौबत ही न आने दी थी। पर लड़कों को कान पकड़ते और 'भूतना' को उनकी पीठ पर घूँसे लगाते देखा था। जानता था, जरा ठीक तरह कान न पकड़े तो घूँसा पीठ पर पड़ेगा। दाँत पीसकर मैंने कान पकड़े और जितना ऊँचा उठ सकता था उठा। क्योंकि लड़के ठीक तरह कान न पकड़ते थे, इसलिए उनके कान पकड़ते ही 'भूतना' का घूँसा उनकी पीठ पर पड़ता था। निमिष भर 'भूतना' ने मुझे कान पकड़े देखा और संतुष्ट हो फिर ब्लैक बोर्ड की ओर पलटे। मेरा रक्त चेहरे की नसों मे आ गया, माथा फटने-फटने को होने लगा, पिंडलियाँ कसाव की शिद्दत और पीड़ा से काँपने लगीं। यदि मुझे अधिक देर उस तरह कान पकड़े रहना पड़ता तो मै अचेत होकर गिर पड़ता अथवा विवश हो मुझे पीठ पर घूँसा सहना पड़ता। पर तभी घंटी बज गयी। मैं पहुँचा ही देर से था और मेरी उस सावधानी ने मेरी जान बचा दी।

उसके बाद मैं कई दिन तक बीमार पड़ा रहा।

छात्रों के पीटने में 'भूतना' के स्वभाव की बेइख़्तयारी और बेतुकेपन के कई दृश्य मुझे याद हैं। एक तो इतना स्पष्ट है कि जैसे कल हुआ हो।

प्रश्न लिखवाकर 'भूतना' कुर्सी पर ही सो गये थे। मानीटर ने प्रश्न निकालकर कापी उनके सामने रखी तो उन्होंने ऊँघते-ऊँघते उठ कर उसे देख लिया था और उसे लड़कों की कापियाँ देखने का आदेश देकर फिर ऊँघने लगे।

जब मानीटर छात्रों की कापियों पर 'ग़लत' और 'सही' निशान लगा चुका तो 'भूतना' को ऊँघते देखकर उसने ही 'भारत के सितारों' को बैंचों पर खड़े होने का आदेश दे दिया और स्वयं अपनी जगह जा बैठा। 'भूतना' ने स्वयं लड़कों की मरम्मत करने के बदले कुर्सी पर बैठे-बैठे मानीटर को आदेश दिया :

'दो-दो मुक्के जोर नाल सारियां नूं लगा।'*

पहला लड़का दुर्भाग्य से मानीटर ही की डेस्क पर था। कुछ मैत्री का लिहाज़, कुछ रोज की संगति का, मानीटर ने मुक्का जरा धीरे से लगाया। तभी 'भूतना' लपक कर उठे।

'भूतनी देया पुत्तरा इह ज़ोर नाल मुक्का मारिया ई जां प्यार कीता ई। आ ते मैं तैनूं दस्सां मुक्का कैंज मारीदा ए।'**

और गर्दन से दबोच कर उन्होंने मानीटर की पीठ को घूंसे से गुंजा दिया।

'मास्टर जी मैं......' मानीटर ने कहना चाहा।

'ओए मैं देया पुत्तरा......जरा एधर ते हो, मैं तैनूं मुक्का मारना

---

*सब की पीठ पर जोर से दो-दो घूंसे मार।

**ओ भूतनी के बच्चे यह तूने घूंसा लगाया है या प्यार किया है। आ तो मैं तुझे बताऊँ कि घूंसा कैसे लगाया जाता है।

सिखावां'*—दाँत पीसते हुए भूतना ने बड़े आराम से एक मुक्का उसकी पीठ पर और जमा दिया।

'जी मैं.....' मानीटर ने कहना चाहा। क्लास का मानीटर होने के नाते अभी उसकी चीख़ न निकली थी।

'ओए, जी मैं की! भूतनी देया पुत्तरा तू मानीटरी करना एं कि दोस्तियां निभांदा एं? ओए बदा, तू बकरा ऐ तै मैं कसाई एं, चल ते किद्धर नूं चलना एं।'†

साथ ही उन्होंने एक थप्पड़ और दो घूँसे उसे प्रदान किये।

मानीटर के बड़प्पन की चीख़ें निकल गयीं, लेकिन 'भूतना' ने उसे नहीं छोड़ा। दांत पीसते और मुक्कों से दोहरी हो जाने वाली कमर को ठीक करने का अवसर देते हुए, उन्होंने उसे दोनों कानों से पकड़ कर झकझोरते हुए बताया कि उन्होंने बड़े-बड़े 'बद' सीधे कर दिये हैं और वे उसे ऐसी 'दोस्ती निभाना' सिखायेंगे कि उम्र भर उसे याद रहेगा। जब उन्होंने उसे और दो चार थप्पड़ रसीद किये तो मानीटर बिलबिला उठा और 'भूतना' कमरे का चक्कर लगाने चले। पिछली बैंचों के लड़के सीधे बैठे मानीटर की गत बनती न देख सकते थे, तनिक टेढ़े होकर अथवा उचक कर देख रहे थे। अपने उस चक्कर में एक-एक घूँसा उन सबकी पीठ पर रसीद करते हुए 'भूतना' फिर मानीटर से जा चिपटे। इस बीच में वे बड़े ज़ोरों से अपने कसाई होने की घोषणा करते गये।

मुझे अच्छी तरह याद है, जब दूसरा चक्कर लगाकर उन्होंने तीसरी बार मानीटर साहब को जा पकड़ा तो एक दोहत्थड़ उसके जमाते हुए अपने सिर पर भी जमा ली। उस समय उनकी आकृति देख कर

---

*ओ मैं के बच्चे जरा इधर हो, तुझे मुक्का मारना सिखाऊँ।

†अरे 'जी मैं' क्या, 'भुतनी' के बच्चे तू मानीटरी करता है या मैत्री निभाता है। अरे दुष्ट तू बकरा है और मैं कसाई हूँ, चल तो किधर को चलता है।

डर लगता था। मुँह लाल हो रहा था, ओंठों से झाग निकल रही थी, जबड़े और भी उभरे हुए दिखायी देते थे और गर्दन आगे को निकली पड़ती थी।

तभी जब वे कुर्सी पर धँसने के लिए मुड़े कि घंटी बज गयी। मानीटर बैंच पर दोहरा होकर बाहों में सिर दिये रोने लगा और बैंचों पर खड़े 'भारत के सितारे' सुख की साँस लेते नीचे उतरे।

प्रतिदिन क्लास में 'बदों' को सुधारने के अतिरिक्त साल में ऐसे भी दिन आते थे जब 'भूतना' विशेषकर 'बिगड़े हुए बदों' के सुधारार्थ तैयार रहते। जब परीक्षा फल निकलता तो फ़ेल होने वालों को वे पीटते। जब बड़े दिन की, ईस्टर की, अथवा गर्मियों की छुट्टियाँ होतीं तो वे घर से चालीस-पचास से सौ-दो सौ तक, छुट्टियों की संख्या के अनुसार, प्रश्न हल करके लाने का आदेश देते। जो लड़के घर का काम करके न लाते उनकी वे बड़ी ख़बर लेते। लेकिन भाई साहब से मैं जान चुका था कि वे छुट्टियाँ ख़त्म होते ही कापियाँ नहीं लेते। जो लड़के घर का काम नहीं करते, वे प्रायः छुट्टियों के बाद तीन-चार दिन ग़ायब रहते हैं। 'भूतना' उन्हें आ जाने का अवसर देते और पाँच-छै दिन के बाद जब वे सब, यह सोचकर कि बला सिर से टल गयी होगी, वापस आते तो भूतना मानीटर से कापियाँ इकट्ठा करने को कहते। फिर जो लड़के बिल्कुल कोरे निकलते, अथवा जिनका काम अधूरा होता अथवा जिन्होंने बेगार टाली होती उनकी जो गत बनती उसकी कल्पना की जा सकती है। मेरी रुचि गणित में थी ही नहीं, मैं सौ-दो-सौ प्रश्न कैसे करता? इसलिए मैं छुट्टियों के बाद स्कूल जाने से डरता, लेकिन उनकी आदत से मैं परिचित था। इसलिए छुट्टियों के बाद दो तीन दिन मैं बराबर क्लास में बना रहता। हाज़िरी का जवाब भी बड़े ज़ोरों से देता और किसी न किसी प्रकार उन्हें अपनी शक्ल दिखा देता। 'भूतना' रोज़ मानीटर से

कापियाँ लेने को कहते, फिर लड़कों को दूसरे दिन कापियाँ लाने को कहते और दाँत पीसते हुए घोषणा करते कि जब सभी 'भारत के सितारे' आ जायेंगे तो वे कापियाँ लेंगे। जब वे कापियाँ लेने को कहते तो मेरा दिल धड़क उठता, लेकिन वे कापियाँ न लेते। तीन दिन हाजिरी देकर मैं ग़ायब हो जाता। बीमार तो था ही। पन्द्रह दिन तक फिर न आता और इतने दिन में इकट्ठी हुई कापियाँ वापस हो जातीं और 'भारत के सितारों' की ठुकस हो चुकी होती और भूतना भूल चुके होते कि कौन-कौन 'बद' ग़ायब था, और किसने कापी नहीं दी थी।

'भूतना' गणित के ही अध्यापक न थे; वे बोर्डिङ्ग के सुपरिंटेंडेंट भी थे। उन्हें इस बात का मान भी था कि बोर्डिङ्ग में बड़े-बड़े 'बदों' को उन्होंने सीधा कर दिया है।

बोर्डिङ्ग नगर से तीन मील बाहर उजाड़ बयाबान जगह में बना था— सैनिकों की अधबनी बैरकों-सरीखा। मन बहलाव का वहाँ कोई साधन न था। यों भी आर्यसमाजी स्कूल, वहाँ के सारे छात्र ब्रह्मचारी! और ब्रह्मचारियों के लिए मन बहलाव पाप। उनसे आशा रखी जाती कि सर्दी हो या गर्मी, वे प्रातः चार बजे उठें। गर्मियाँ हों तो तत्काल शौचादि से निवृत्त हो, व्यायाम करें! सर्दियाँ हों तो पहले दो घंटे पढ़ें, फिर नित्यकर्म से फ़ारिग़ हों। चाहे कैसा भी कड़ाके का जाड़ा क्यों न पड़ रहा हो, प्रतिदिन ठंडे पानी से स्नान करें। स्नानादि के लिए स्थानगृहों की व्यवस्था न थी। रहट चला दिया जाता था और लड़के पवित्र जलवायु का आनंद लेते हुए दिसम्बर जनवरी की सर्दी में उसकी धारा के नीचे नहाते। इसके बाद सब 'संध्या-भवन' में इकट्ठे होते और 'संध्या' के मन्त्र उस वीराने को गुंजायमान कर देते।

लेकिन इस कलिकाल में विज्ञान ने सुख-सुविधा के सामान पैदा करके छात्रों को आराम-तलब बना दिया है। नियम, धर्म, नियंत्रण और निष्ठा का जीवन व्यतीत कर ब्रह्मचर्य के अपने पुरातन आदर्श पर चलने की सहज रुचि उनमें नहीं होती। माता पिता जिस आदर्श के विचार से अपने बच्चों को उस आर्यसमाजी स्कूल में भेजते, स्कूल के अधिकारियों का कर्तव्य था कि उस आदर्श पर लड़कों को चलाते और चूंकि पुरानी कहावत है कि लातों के भूत बातों से नहीं मानते और छात्रों से बढ़कर 'लातों के भूत' और कौन होंगे, इसलिए 'भूतना' को यह सत्कार्य सौंपा गया था कि वे लातों के इन भूतों को सीधे रास्ते डालें; गाँवों से आकर शहर के प्रलोभनों में जो छात्र फँसने वाले हों, उन्हें रोकें; नियम-निष्ठा का जीवन व्यतीत करना सिखायें तथा पूर्ण ब्रह्मचारी और पक्के आर्यसमाजी बनायें!

'भूतना' अपना यह कर्तव्य जुनूनियों के जोश से पूरा करते। चार के बदले प्रातः साढ़े तीन बजे उठते। स्वयं सुबह उठने की घंटी बजवाते। जो छात्र इस लम्बी घंटी की आवाज़ न सुनते, उन्हें गर्दन से पकड़कर उनके लिहाफ़ों से जा निकालते। नहाने, व्यायाम करने अथवा सन्ध्या करने में जो सुस्ती दिखाता उसकी मरम्मत करते। चूंकि इस प्रयास में उन्हें सतत आधी रात को उठकर निरन्तर सजग रहना पड़ता इसलिए क्लास में पड़े ऊँघा करते। खेल के लिए हॉकी और फुटबाल की व्यवस्था थी और व्यायाम के लिए एक 'पैरेलल बार' और मुगदर रखे थे। 'इनडोर' खेलों की मनाही थी। ताश, शतरंज पकड़ी जाती तो पिटाई होती! और यदि किसी की जेब से सिगरेट निकल आते तो जिस प्रकार पिछले ज़माने में अपराधी का मुँह काला करके नगर में घुमाते थे, 'भूतना' अपराधी को गर्दन से पकड़कर सारी बैरक में घुमाते और प्रत्येक कमरे के सामने रुक कर एक घूँसा अथवा थप्पड़ उसे रसीद करते ताकि दूसरे छात्रों को शिक्षा मिले।

लेकिन जिस प्रकार मैं दो वर्ष आठवीं में रहकर उनके चंगुल से बचता रहा, उसी प्रकार ऐसे लड़कों की कमी न थी जो ऐन उनकी नाक के नीचे सब कुछ करते थे। इस निरोध और दमन की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप जो कुछ होता था, उसका ब्योरा देना कठिन है। इतना जान लीजिए कि यह सब होता था जिसके प्रतिरोध के लिए अधिकारी वर्ग ने 'भूतना' को उस बोर्डिङ्ग के खूँटे से बाँध रखा था।

लेकिन उस चोरा-छिप्पी के अतिरिक्त जो 'भूतना' की ऐन नाक के नीचे चलती, लड़के कभी-कभी भूतना के उस ज़ुल्म का बदला खुले आम लेने से भी न चूकते।

एक बार गर्मियों के दिनों में जब नगर में ऐलफ्रेड नाटक कम्पनी आयी हुई थी, रात की हाज़िरी के बाद लड़के चुपचाप थियेटर देखने खिसक जाते थे, और अढ़ाई-तीन बजे वापस आते थे। नाटक रेलवे रोड के मँडुए में होता जो हमारे बोर्डिङ्ग से लगभग चार मील था। कई बार नाटक देर से खत्म होता तो लड़के सुबह की घंटी के बाद आते। 'भूतना' जब हाजिरी लगाने जाते तो अनुपस्थित लड़कों के साथी कह देते कि वे शौच गये हैं। न जाने कैसे 'भूतना' को इस बात की भनक मिल गयी। दूसरी ही रात झल्लाये हुए वे दो लड़कों को साथ ले, रेलवे रोड पहुँचे और मँडुए के बाहर जा खड़े हुए। ज्यों ही लड़के थियेटर से निकले 'भूतना' ने उन्हें धर दबोचा। फिर जो दुर्गति उनकी हुई उसकी कल्पना की जा सकती है।

पर उन लड़कों में से जो थियेटर देखने जाते थे, अधिकांश ऐसे थे जो स्कूल में पढ़ने नहीं, मौज मनाने आते हैं। जिनका सदा यह प्रयास रहता है कि जितनी देर यह मौज मनायी जा सके अच्छा है, फिर चाहे अधिकारी अथवा दूसरे 'दब्बू' अथवा 'रट्टू' लड़के उन्हें गुंडों की उपाधि से ही क्यों न विभूषित करें। दुर्भाग्य अथवा सौभाग्य

से 'भूतना' का हाथ जिस लड़के की गर्दन पर पहले पड़ा, वह उन लड़कों का 'रिंग लीडर' पन्नालाल था। अपने स्वभावानुसार फिर 'भूतना' ने किसी दूसरे लड़के को नहीं छुआ और तीन-चार मील उसकी 'रिंग लीडरी' निकालते चले आये।

दो एक दिन तो पन्नालाल अपनी चोट को सहलाता रहा फिर उसने ऐसा बदला लिया कि 'भूतना' कुछ दिनों के लिए बोर्डिंग छोड़ने पर विवश हो गये।

बात यूं हुई कि कृष्ण पक्ष की काली रातें थी। उन्हीं का लाभ उठाकर लड़के थियेटर देखने जाते थे। चाँदनी रातें होतीं तो इस बात का डर था कि बाहर मैदान में सोये हुए 'भूतना' कहीं जाग कर पकड़ न लें ; सोते वे बड़ी गहरी-नींद थे, पर चाँदनी रातों को जाने का साहस लड़कों को न होता। जिस रात पन्नालाल को 'भूतना' ने पीटा, उसके तीन ही दिन बाद अमावस थी। आकाश पर उस दिन कुछ मेघ भी छाये थे। उन्होंने रात की स्याही पर कुछ ऐसा साया डाल दिया था कि तारों के बिम्ब से जो थोड़ा प्रकाश होता, वह भी मिट गया था। उस सूचीभेद्य अन्धकार में पन्नालाल आधी रात को, न जाने कहाँ से, एक टट्टू पकड़ लाया। न जाने वह उसी समय लाया था या पहले ही से लाकर उसने पास के वीराने में उसे बाँध रखा था। बोर्डिंग के चारों ओर दो-अढ़ाई मील के अन्तर पर गाँव थे। उन्हीं में से वह ले आया होगा। रात जब 'भूतना' गहरी नींद में सोये हुए थे (और वे सोते थे तो घोड़े बेचकर सोते थे) उसने एक लम्बी, मज़बूत रस्सी लेकर उसका एक सिरा उनकी चारपाई के पाये से बाँध दिया और दूसरा टट्टू की गर्दन से,

लेकिन इससे पहले उसने 'भूतना' की पगड़ी, जो उनके सिरहाने गिरी पड़ी थी, उठाकर उसके दो एक हलके प्लेट देकर उन्हें चारपाई से भी उलझा दिया।

तभी कदाचित् उसका संकेत पाकर, जहाँ लड़के सोये थे, वहाँ से उसके साथी 'पकड़ लो, जाने न पाये !' 'जाने न पाये, पकड़ लो !' 'मारो-मारो ! जाने न पाये' ! की आवाज़ देने और भागने लगे। दूसरे लड़के भी जगकर भागने और शोर मचाने लगे। बोर्डिंग में 'पकड़ो' 'मारो, 'जाने न पाये', का शोर मच गया। टट्टू डरकर जो भागा और पन्नालाल और उसके साथियों ने उसे भागने में पूरी मदद दी तो 'भूतना' अपनी पगडी के कारण चारपाई से उलझे दूर तक घिसटते गये और उन्हें होश आया, जब उनकी हड्डी पसली बराबर हो गयी। पन्नालाल के साथी 'भूतना' को उठाकर इनकी मरहम-पट्टी करने ले गये और उसने इस बीच में रस्सी और टट्टू का निशान मिटा दिया।

दूसरे दिन सारे स्कूल में यह ख़बर फैल गयी कि घोड़े पर चढ़ कर डाकू बोर्डिंग को लूटने आये थे। पन्नालाल और उसके साथियों ने उनका डटकर मुकाबला किया और उन्हें हरा दिया। एक डाकू का घोड़ा जो मास्टर रामचंद 'भूतना' की चारपाई से टकराया तो उसे उलटाता गया। मास्टर जी के बड़ी चोटें आयी हैं। पन्नालाल के भी चोटें आयी हैं, (जिनमें से अधिकांश वही थीं जो उसे मास्टर जी के हाथों आयी थीं) लेकिन उसकी वीरता के कारण बोर्डिंग लुटने से बच गया।

पन्नालाल यों भी स्कूल का सबसे बदमाश लड़का था, लेकिन इस घटना ने तो उसे 'हीरो' बना दिया। हेड मास्टर ने सारे स्कूल के छात्रों को मैदान में बुलाकर छात्रों के कर्त्तव्य, साहस तथा वीरता पर एक छोटा-मोटा भाषण दिया और पन्नालाल की बड़ी प्रशंसा की। और

पास के गाँवों में जाकर निश्चय ही डाकुओं का पता लगाने का वचन देकर उसी जोश में पन्नालाल और उसके साथियों ने सप्ताह भर स्कूल से छुट्टी ले ली और खूब मौजें मनायीं।

वह तो पन्द्रह दिन, महीने बाद आपने ही एक साथी से पन्नालाल की लड़ाई हो गयी और धीरे-धीरे इस षडयन्त्र का भांडा फूट गया। पन्नालाल स्कूल से निकाल दिया गया और जिस मैदान में उन्हें शाबाशी मिली थी, वहीं उसके साथियों को बारह-बारह बेंत लगाये गये, नहीं तो पन्नालाल और उसके साथियों की बहादुरी स्कूल के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखी जाती और नित्य नये दिन इस कहानी पर रंग चढ़ा करता।

इस घटना के बाद प्रिंसिपल ने 'भूतना' को कुछ अर्से के लिए बोर्डिङ्ग से अवकाश दे दिया। इसीलिए नहीं कि 'भूतना' डर गये, वे शहीद लेखराम और मुँशीराम के परम अनुयायी, उन गुंडों से क्या डरते? पर अधिकारियों ने ही उनको कुछ विश्राम देना उचित समझा!

'भूतना' का पैत्रिक मकान शायद किला मुहल्ला में था। उनका परिवार वहीं रहता था—पत्नी, लड़की और लड़का—होस्टल के उस वीराने में उनके पढ़ने की कोई व्यवस्था न थी। (हाई स्कूल वहाँ से ढाई मील था और प्राईमरी स्कूल साढ़े तीन-चार मील।) इसलिए बच्चों की शिक्षा के विचार से 'भूतना' अपने परिवार को होस्टल में न लाये थे। सुपरिंटेंडेंट के लिए जो क्वार्टर था, वह उन्होंने दूसरे टीचर को सहर्ष दे रखा था और स्वयं एक साधारण कमरे में रहते थे।

उनकी लड़की किला मुहल्ला ही की एक पाठशाला की सातवीं कक्षा में पढ़ती थी। लड़का वहीं की प्राइमरी शाखा में पढ़ता था। 'भूतना'

कभी-कभी वेतन देने अथवा होस्टल का राशन लाने के दिन घर का चक्कर लगाते; घबराये हुए से पागलों की तरह आते और उसी तरह वापस चले जाते। उनका प्रेम तो बच्चों को क्या मिलता, पर उनकी क्रूरता से भी वे बचे रहते।

होस्टल से अवकाश पाने पर जब 'भूतना' घर आ गये तो सप्ताह भर लगातार सोते रहे, फिर उन्हें होस्टल की याद सताने लगी। होस्टल में वापस जाना उतनी जल्दी सम्भव न हुआ तो उन्होंने अपना ध्यान अपनी लड़की और लड़के की ओर फेरा और एक को ब्रह्मचारिणी और दूसरे को बाल-ब्रह्मचारी बनाने के लिए प्रयत्नशील हो गये। उनके इस प्रयास का फल ठीक-ठीक क्या हुआ, इसका पता तो मुझे बहुत देर बाद चला, परन्तु उनके इस प्रयास की सरगर्मी का प्रमाण मुझे उन्हीं दिनों मिल गया।

मैं शाम को न जाने किसी काम से अथवा योंही टहलने के लिए 'अमाम नासरुद्दीन' जा रहा था। 'छत्ती गली' से बाहर निकला ही था कि भीड़ के आगे-आगे एक युवक को गर्दन से पकड़े, क्रोध से दाँत निकाले, निचला ओठ लटकाये, आँखें लाल किये अपनी चिर-परिचित भंगिमा में 'भूतना' भागम-भाग आते दिखायी दिये।

'मास्टर जी बात क्या है ?' सुक्खू बिस्कुट वाले ने सहसा दुकान से नीचे उतरते हुए पूछा।

'भूतना' क्षण भर के लिए उसकी दुकान के आगे रुके। एक घूँसा उस युवक की पीठ पर देते हुए उन्होंने सुक्खू को बताया कि वह 'भूतनी दा पुत्तर' उनकी लड़की से छेड़खानी कर रहा था और वे कई दिन से देख रहे थे। आख़िर आज उन्होंने उसको पकड़ लिया, अब वे उस 'बद' की सारी 'बदी' निकाल देंगे। सुक्खू को यह सूचना देकर वे उस युवक की ओर मुड़े। दाँत किचकिचाकर उन्होंने घोषणा की—

'बद देया पुत्तरा, तू बकरा एँ ते मैं कसाई एँ, चल ते किद्धर नूं चलदा एँ'। और उसी प्रकार उसकी गर्दन दबोचे, धकेलते हुए से, वे उसे ले चले।

प्रतिवाद में युवक क्या मिनमिनाया, यह मेरी समझ में नहीं आया। तमाशाइयों में दूसरे किसी की समझ में आया होगा, इसमें मुझे संदेह है।

आज इतने वर्षों के बाद मुझे उस युवक की शक्ल याद नहीं रही, परन्तु उस समय मास्टर रामचन्द का जो रौद्र रूप था, वह आज भी मेरे स्मृति-पट पर अंकित है। उस लड़के को गर्दन से पकड़े, अपने किसी परिचित दुकानदार अथवा मित्र को अपनी उस मुहिम की कैफ़ियत देते और उस युवक को पीटते हुए जिस प्रकार वे किला मुहल्ला से चलकर 'भैरो बाज़ार' और 'बोहड़ वाला बाज़ार' से होते हुए 'छत्ती-गली' तक आये थे, उसी प्रकार वे उसे लाल बाज़ार पार कर 'बाँस बाज़ार' के दूसरे सिरे पर श्री राधाराम वकील की कोठी में ले गये। भीड़ को उन्होंने अन्दर जाने से मना कर दिया और स्वयं कोठी के बड़े फाटक में दाख़िल हो गये।

राधाराम जी आर्य समाज के प्रधान और नगर के प्रतिष्ठित वकील थे। मैं भीड़ के साथ गयी रात तक उस युवक का अंजाम जानने के लिए उनकी कोठी के बाहर खड़ा रहा, पर न वह युवक ही निकला न मास्टर रामचन्द ही। हारकर चला आया।

दूसरे दिन पता चला कि श्री राधाराम ने उस युवक को डाँट-डपट कर कोठी के पिछले दरवाज़े से निकाल दिया था और 'भूतना' को समझाया था कि उन्होंने जो उस युवक को इतना पीटा है, यदि वह अदालत में जाकर दफ़ा ३२३ अथवा दफ़ा ३२६ के अधीन फ़ौजदारी का मामला चला दे तो वे क्या करेंगे? यदि उसने कहा कि मैंने लड़की को नहीं

छेड़ा तो आप क्या प्रमाण देंगे ? राधाराम वकील ने उन्हें समझाया कि आपको अपनी लड़की को कचहरी हाज़िर करना पड़ेगा। मुफ़्त में उसकी बदनामी होगी।

यह सब सुनकर 'भूतना' शान्त हो गये। श्री राधाराम ने उनको उस समय तक अपनी कोठी से नहीं जाने दिया, जब तक बाहर इकट्ठे होने वाले तमाशाई एक-एक करके नहीं छँट गये।

उनकी लड़की की आयु उस साल बारह-तेरह वर्ष की थी, पर उसे पूर्ण ब्रह्मचारिणी बनाने का विचार तज कर उन्होंने उसका ब्याह कर दिया। रहा लड़का तो वह कैसा बाल-ब्रह्मचारी बना, इसका पता हमें तब लगा जब वह किसी-न-किसी प्रकार प्राइमरी स्कूल पास कर वह पाँचवीं कक्षा में, हाई स्कूल आया। मास्टर रामचन्द उसे सुधार सके या नहीं, पर यह बात सोलह आने सच है कि उसने उन्हें सुधार दिया।

मैं उस समय नवीं जमात में पढ़ता था। दो वर्ष आठवीं में लगाकर, मैं किसी-न-किसी प्रकार, अपने भाई की सहायता से, आठवीं के उस दुर्गम नद को पार कर आया था। अंक गणित में मुझे कुछ भी रुचि न थी, पर रेखागणित मुझे भाता था। भाई साहब ने मुझे उसमें इतना ताक़ कर दिया कि दूसरे वर्ष जब मैंने आठवीं की परीक्षा दी तो असफल नहीं रहा। इसी रेखागणित के सहारे मैंने मैट्रिक पास की, नहीं गणित में मैं जैसा कमज़ोर था, उसे देखते हुए दस वर्ष भी दसवीं से मेरा निकलना असम्भव था।

एक दिन आधी छुट्टी का समय था। हम लोग मैदान में खेल रहे थे कि बरामदे में, जहाँ टीचर लोग बैठते थे, भूतना के ज़ोर-ज़ोर से चिल्लाने की आवाज़ सुनायी दी। कुतूहलवश हम उधर गये। 'भूतना'

एक छोटे से गंदे-मैले लड़के को बेतरह पीट रहे थे और बड़े ज़ोर-ज़ोर से अपने क़साई होने की घोषणा कर रहे थे और वह लड़का न रोता था न चिल्लाता था। रेत के बेजान बोरे की तरह पिट रहा था।

पूछताछ करने पर मालूम हुआ कि वह उनका लड़का बिरजू है। कल घर से भाग गया था। लड़के उसे नगर भर में ढूँढ कर हार गये। अभी मिला है। स्मशान में छिपा हुआ था। रात भर वहीं रहा।

रात भर जो लड़का स्मशान में छिपा रहा, उसे एक बार अच्छी तरह देखने की उत्सुकता हुई। छुट्टी मिलते ही मैं पाँचवीं श्रेणी की गेलरी के आगे जा खड़ा हुआ। बिरजू जब बस्ता लिये हुए निकला तो मैंने उसे ध्यान से देखा। छोटे से क़द का गंदा-मैला लड़का था। नाक तीखी थी, पर चेहरा पिचका सा लगता था; मुख पर मद्धम से चेचक के दाग़ थे; नाक़ से निरन्तर लेस बह रही थी, जिसे वह जब तब अपनी आस्तीन से पोंछ लेता था। कुछ विचित्र प्रकार की भावनाहीन शून्यता उसकी आकृति पर विराज रही थी। जीवन में अनेकानेक चेहरे देखे हैं। टिमटिमाते तारों का जैसे आभास रहता है, पहचान नहीं रहती, इसी प्रकार उनमें अधिकांश को आज देखकर पहचान सकना कठिन है। लेकिन कुछ ऐसी भी आकृतियाँ हैं, जिनकी प्रत्येक रेखा मानस-पट पर अंकित हैं। मास्टर रामचंद और उनके सुपुत्र उन्हीं में से हैं। मास्टर रामचन्द को तो ख़ैर दो वर्ष निकट से देखा, उनसे पढ़े, बिरजू को तो अधिक बार देखने का अवसर नहीं मिला। फिर भी न जाने उसकी सूरत में क्या था कि आज भी उसकी याद उसी प्रकार बनी हुई है।

दूसरे दिन जब हम स्कूल पहुँचे तो सारा स्कूल इस चर्चा से भिन-भिना रहा था कि 'भूतना' का लड़का साँझ ही से फिर भाग गया। स्कूल से वह घर गया ही नहीं। मार्ग ही से रफ़ूचक्कर हो गया।

इस बार वह तीसरे दिन पकड़ा गया। 'भूतना' अपनी लड़की की शादी के बाद फिर होस्टल में आ गये थे और पूर्ववत् अवैतनिक सुपरिंटेंडेंट हो गये थे। लड़की के पठन-पाठन की चिन्ता उन्हें रही न थी, बिरजू हाई स्कूल में आ गया था और पन्नालाल तथा उसके साथी पास अथवा फेल होकर स्कूल छोड़ गये थे। इसलिए वे किला मुहल्ला छोड़, अपने बीवी-बच्चे सहित होस्टल ही में उठ आये थे। होस्टल के लड़कों ने बिरजू की बड़ी खोज की, पर वह नहीं मिला। उन्हीं दिनों एक लड़का अपने गाँव फगवाड़ा जा रहा था। रास्ते में फिलौर के स्टेशन पर उसे बिरजू दीख पड़ा। वह उसे बरबस ले आया।

इस बार 'भूतना' ने होस्टल के सारे छात्रों के सामने बेंत से उसकी मरम्मत की। इसलिए भी कि न केवल बिरजू को नसीहत हो, वरन् छात्रों को भी कान हो जायँ कि जब उनका सुपरिंटेंडेंट अपने लड़के को उसके दोष पर धुन कर रख सकता है तो उनको भी क्षमा न करेगा। मैंने बिरजू को उस दिन पिटते नहीं देखा, पर सुना कि कई बेंत टूट गये। स्कूल में कई दिनों तक उस सज़ा की चर्चा रही। 'भूतना' गर्व-स्फीत स्वर में उसका ज़िक्र करते रहे और अपने सहकारियों के सामने घोषणा करते रहे कि वे उस बिरजू की सारी 'बदी' निकाल देंगे।

लेकिन महीने बाद ही बिरजू फिर भाग गया। और इस बार ऐसा भागा कि हफ़्तों तक उसकी कोई खोज-खबर न लगी। 'भूतना' कभी बहराम जाते, कभी बंगा, कभी इलावलपुर, कभी फगवाड़ा; जहाँ कोई दूर का सम्बन्धी भी रहता था, वहाँ भी उन्होंने खोज लगायी, लेकिन बिरजू का पता न चला। 'भूतना' लगभग पागल हो गये। पहली बार इस बात का आभास मुझे मिला कि उस क्रूर व्यक्ति के पहलू में भी दिल नाम की कोई चीज़ है। लड़की अपने ससुराल चली

गयी थी, उसके बाद उनके घर बस यही एक लड़का था। उन्हींकी मार से तंग आकर भागा है, यह बात बीस ढंग से 'भूतना' के कान में पड़ी और कदाचित् जीवन में पहली बार उन्हें इस बात का आभास मिला कि मार-पीट की लाठी सभी भैंसों को नहीं हाँक सकती। कोई अड़ियल बीच मार्ग में हठ करके भी बैठ सकती है। एक डेढ़ महीने के बाद एक आर्यसमाजी भजनीक ने लुधियाने से कार्ड लिखा कि उन्होंने बिरजू को एक हलवाई के यहाँ बरतन मलते देखा है, वे उसे अपने घर ले आये हैं और उसे तत्काल मँगा लिया जाय।

उसका बेटा एक हलवाई के यहाँ जूठे बरतन मल रहा था, यह बात सुनकर 'भूतना' की पत्नी इतना रोयी कि वे अपनी तमाम डाँट-डपट के बावजूद उसे चुप न करा सके और पहली गाड़ी से लुधियाने को चल दिये।

इस बार 'भूतना' ने उसे नहीं पीटा। लड़का भी ऐसा रहने लगा कि लगा जैसे सदा के लिए सुधर गया। परन्तु 'भूतना' अपने स्वभाव को इतनी जल्दी कैसे छोड़ सकते। परीक्षा में वह फेल हो गया। 'भूतना' ने स्कूल से आकर उसका कान पकड़ लिया और लगातार चार घूंसे उसकी पीठ पर रसीद करते हुए घोषणा की कि वह बकरा है और वे कसाई हैं और वे उसे कच्चा ही चबा जायँगे और नमक भी न लगायेंगे।

लेकिन उस पितृ-भक्त बालक ने अपने पिता को यह कष्ट नहीं दिया। आधी रात को जब मास्टर जी मुँह खोलकर ज़ोर-ज़ोर से ख़र्राटे ले रहे थे, वह दबे पाँव उठा और चुपचाप होस्टल से निकल गया।

इसके बाद क्या हुआ, बिरजू कब आया, यह मुझे याद नहीं। मैट्रिक की परीक्षा के बाद मैं परिणाम तक सुनने स्कूल नहीं गया। बी० ए० में था जब मैंने बिरजू को एक दिन 'भैरो बाज़ार' में पुरानी पुस्तकों

की छोटी सी एक दुकान सजाये देखा। उसके कपड़े उतने ही गंदे और मैले थे, चेहरा उसी प्रकार बैठा-बैठा था, और उसकी नाक उसी प्रकार बह रही थी। गर्मियों के दिन थे, वह दरवाज़े की चौखट से पीठ लगाये ऊँघ रहा था।

मेरा एक छोटा भाई उन दिनों आठवीं क्लास में पढ़ता था। उससे पूछने पर पता चला कि बिरजू को पढ़ाने का समस्त प्रयास कर देखने के बाद 'भूतना' हारकर बैठ गये हैं और आखिर उन्होंने उसे दुकान खुलवा दी है।

'क्या अब भी वे उतना ही पीटते हैं?' मैंने पूछा।

'आतंक तो उनका उतना ही है,' भाई ने कहा—'पर अब वे पीटते नहीं। अधिक समय क्लास में ऊँघते रहते हैं।

इसके बाद 'भूतना' से मेरा साक्षात्कार नहीं हुआ। मैं बी० ए० पास करके लाहौर चला गया। तीन वर्ष बाद, ला कालेज में प्रवेश करते समय, जब मुझे 'कैरेक्टर सार्टिफ़िकेट' की ज़रूरत पड़ी और मैं अपने प्रिंसिपल से मिलने गया तो मैंने क्लर्क की मेज़ पर 'भूतना' को बैठे देखा। पूछने पर मालूम हुआ कि 'भूतना' को स्कूल से हटा दिया गया है, पुराने टीचर हैं, इसलिए दया कर, प्रिंसिपल ने क्लर्क की नौकरी दे दी है, पर वे चलेंगे नहीं।

प्रिंसिपल से मिल कर जब मैं बाहर आया तो 'भूतना' बरामदे में खड़े थे। उनके चेहरे की वह भयानकता लुप्त हो गयी थी। दाँत वैसे ही खुले थे, निचला ओठ वैसे ही लटकता था, पर इन दोनों से जिस क्रूरता का आभास मिलता था, उसका कहीं निशान न था। सिर पर उनके पगड़ी भी न थी। बाल बिल्कुल सफ़ेद हो गये थे, कंधे झुक

गये थे और कूबड़ कुछ और उभर आया था। मैंने उनके पास से गुज़रते हुए उन्हें 'नमस्कार' किया।

उन्होंने मुझे नहीं पहचाना। एक विचित्र-सी दयनीय मुस्कान उनके दाँतों पर फैली और उन्होंने बिना मुझे देखे, धरती में नज़रें गाड़े, मेरे नमस्कार का उत्तर दे दिया। उन समस्त अत्याचारों के बावजूद जो मैंने उनके हाथों सहे थे, मेरा हृदय उनके प्रति कुछ अजीब-सी सहानुभूति से भर आया। उस सहानुभूति में यह जानकर कुछ वृद्धि ही हुई कि अधिकारियों ने इसलिए उन्हें अलग कर दिया है कि लड़के अब उनका आतंक नहीं मानते।

विडम्बना यह है कि जब वे सचमुच बच्चों को पढ़ाने के योग्य हुए थे, अधिकारियों ने उन्हें निकाल बाहर किया था।